प्रथमावृत्ति वीर नि. सं. २५०१
प्रतियाँ : २१००

इस ग्रन्थका मूल्य कम करनेको प्राप्त हुई
आर्थिक सहाय

१०१-००	श्री विमलकुमारजी पाटनी	बम्बई
१०१-००	,, नरेन्द्रकुमार जैन	,,
१०१-००	,, श्रीराम जैन	दिल्ही-५
५१-००	स्व. सन्तोषकुमार जैन	खण्डवा
———	(हस्ते—श्री जतीशचन्द्र जैन)	
३५४-००		

卐

मूल्य : ३=००

: मुद्रक :
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय, सोनगढ (सौराष्ट्र)

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

आचार्योंने "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" के द्वारा यह समझाया है कि गुण (शक्ति) पर्याय (अवस्था) सहित ही वस्तु होती है अर्थात् शक्ति और अवस्थाओंके बिना वस्तुका अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

पर्याय भी निश्चयनयसे स्वयं सत्, अहेतुक है

हर एक द्रव्य स्वचतुष्टयमें अस्ति, परचतुष्टयसे नास्ति स्वरूप ही है।

हर एक द्रव्यकी स्वचतुष्टयमें अस्ति (मौजूदापना) है और परचतुष्टयमें नास्ति है इसीका नाम अनेकांत और इस कथन शैली-का ही नाम स्याद्वाद है, आत्मा स्वचतुष्टयमें भी है और परचतुष्टय-में भी है यानी कोई द्रव्यका कार्य कभी आपसे हो तथा कभी परके द्वारा भी हो जावे इसका नाम अनेकांत अथवा स्याद्वाद नहीं है। जैसे आत्मद्रव्यका, स्वद्रव्य = आत्मवस्तु, स्वक्षेत्र = आत्माके असंख्य प्रदेश, स्वकाल = आत्मामें अनंत गुणोंकी वर्तमान समय समयमें होने वाला परिणमन यानी पर्यायें, स्वभाव = आत्माकी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनंत स्वाभाविक शक्तियाँ; इसी प्रकार आत्माकी अपेक्षा से कर्म तथा शरीरादि पुद्गल = परद्रव्य हैं, पुद्गलके प्रदेश परक्षेत्र क्योंकि वो आत्माके लिये पर क्षेत्र हैं, पुद्गलके स्वगुणोंकी समय समय होने वाली पर्यायें परकाल आत्माके लिये पर काल हैं, तथा पुद्गलकी स्पर्श, रस, गंधादि अनंत स्वाभाविक शक्ति पुद्गलका स्वभाव आत्माके लिये परभाव है, इस प्रकार आत्म द्रव्यकी स्वचतुष्टयमें अस्ति है किंतु पर चतुष्टयमें [illegible] है यानी आत्मद्रव्य कभी भी शरीरादि पुद्गलरूप [illegible] नहीं हो सकता तथा परस्पर [illegible] [illegible] [illegible]

इस प्रकारसे सब द्रव्य अपने स्वचतुष्टयमें ही अनादि अनंत परिणमन करते रहते हैं और अपने परिणमनके लिये किसीको कोई दूसरेका आधार सहारा आदि नहीं है तथा किसी क्षेत्र काल संयोग की वाट नहीं देखनी पड़ती, सबका अपनी अपना स्वतंत्रतासे परिणमन होता ही रहता है।

सर्वज्ञपना क्या है?

सच्चे देवका लक्षण सर्वज्ञ वीतरागपना है सर्वज्ञ किसे कहते हैं कि जो अपने स्वभावमें रहते हुवे भी विश्वके समस्त द्रव्यों यानी वस्तुओंमें हर एक की जिस-जिस समयमें, जिस-जिस क्षेत्रमें, जिस प्रकारसे, जो-जो अवस्था होनेवाली है, हो रही है अथवा हो चुकी है उन सबको प्रत्यक्ष पूर्णरूपसे जैसीकी तैसी युगपत् जानते है। वीतरागीका ज्ञान पूर्ण हो चुका है, इसलिये किंचित् भी न्यून नहीं जानता तथा वस्तुमें जो होनेवाला है सो सब जान लिया अतः अधिक जाननेको कुछ रह नहीं जाता, इसलिये सारांश यह हुआ कि "जिस वस्तुकी जैसी अवस्था जिस समय होनेवाली है, वैसी ही सर्वज्ञके ज्ञानमें आई है, और वैसी ही होवेगी ही"।

ऐसी श्रद्धासे ही वस्तुस्वभावका तथा सर्वज्ञका यथार्थ निर्णय होता है और "पर द्रव्यका मैं कुछ भी नहीं कर सकता" ऐसी अकर्तृत्वपनेकी भावना जाग्रत होकर अपने ज्ञायक स्वभावकी रुचि

शक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः

जयसेनाचार्य्य

अनेकांत इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं अस्तित्व नास्तित्वद्वयादिस्वरूपंपरस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकांतो भण्यते।

इस जाती है यदि इससे विपरीत परद्रव्यमें कर्तृत्वपनेकी रुचि हो तो उसको सर्वज्ञ और वस्तुस्वभावकी प्रतीति नहीं होती। यही स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें भी कहा है कि—जो जिस जीवके जिस देश विषैं जिस काल विषैं जिस विधानकरि जन्म तथा मरण उपलक्षणतैं दुःख, सुख, रोग, दारिद्र आदि सर्वज्ञ देवने जाण्या है जो ऐसे ही नियम करि होयगा सो ही तिस प्राणीके तिसही देशमें तिसही कालमें तिसही विधान करि नियमतैं होय है, ताकूं इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थंकर देव कोई भी निवारि नाहीं सकै है। आत्मावलोकन पत्र ५४ में भी ऐसा ही कहा है।

विकारकी उत्पत्ति कैसे तथा निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है

उपरोक्त सिद्धान्तोंसे यह निर्णय होता है कि आत्माका जिस समय जिस प्रकारका पुरुषार्थ रूप स्वकाल (योग्यता) होता है उसी प्रकार स्वयं परिणमन करता है, लेकिन इतना जरूर है कि आत्मा जब विभावरूप परिणमन करता है उस समय स्वसे च्युत होकर परद्रव्यका आश्रयपना जरूर स्वीकारता है।

अगर परद्रव्यका आश्रय न करता है तो विभावरूप परिणमन हो ही नहीं सकता और जिस समय विभावी परिणमन है उस समय निमित्त पर परद्रव्यका आश्रयपना भी है। अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखा तो किसी द्रव्यका किसीके साथ आश्रयपना नहीं है, कारण हर द्रव्यकी पर्याय भी तो अपने स्वकालकी योग्यताके अनुसार परिणमन करती हुई स्वतः उत्पन्न हुई है। [illegible] परिणमन करनेके [illegible] है, और इसी प्रकार [illegible] [illegible] [illegible]

जैसे कि आत्माका चारित्रगुण जिस समय अपने स्वकालके अनुसार क्रोधरूप[1] परिणमन करता है उस समय उसके अनुकूल ही द्रव्यकर्म अपने परिवर्तन कालके अनुसार स्वयं उदयरूप उपस्थित होते हैं और बाह्य नोकर्म भी उस ही प्रकारके अपने परिवर्तन कालसे स्वयं उपस्थित होते हैं और उस समय जीव स्वाश्रयपनेको भूलकर पराश्रित परिणाम करता है और उन सबका आपसमें एक-दूसरेसे उस समय यानी उस पर्याय मात्रके लिये निमित्त-नैमित्तिक स्वतंत्ररूप संबंध कहा जाता है, यदि कोई उसीमें निमित्तकी उपस्थितिसे विलक्षणता माने तो कर्तृत्व और दो द्रव्योंकी एकत्व-बुद्धिका दोष आता है।

न तो उपादानरूप स्वद्रव्यकी पर्यायने निमित्तरूप परद्रव्यकी पर्यायमें कुछ भी अतिशय प्रेरणा प्रभाव आदि किया है और उसी प्रकार न निमित्तरूप परद्रव्यकी पर्याय ने उपादानकी पर्यायमें कुछ भी किया है, जैसे कि सूर्योदय होते ही बहुधा प्राणी जाग्रत होकर अपने योग्य प्रवृत्ति करने लग जाते हैं और सूर्यास्त होने पर विश्राम लेने लग जाते हैं, कुछ सूर्य उन प्राणियोंको उपरोक्त कार्यके लिये प्रेरणा नहीं करता ?

ऐसा ही श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ में भी कहा है कि "जो सत् कल्याणका वांछक है, वह आप ही मोक्ष सुखका बतलानेवाला तथा मोक्ष सुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप ही (आत्मा ही) है"। इस पर शिष्य ने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु-शिष्यके उपकार,

---

१. निश्चयसे अपने ज्ञायक स्वभावकी अरुचिका नाम ही क्रोध है।

ऐसा यदि प्रश्न करेंगे" उसको आचार्य गाथा ३५ से जवाब देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता, तथा ज्ञानी किसीके द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता, अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकायके समान निमित्त मात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे उस समय धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है, इसीप्रकार शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्त मात्र कहा जाता है, इसी प्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (शरीरादिको) आदिको निमित्तमात्र कहा जाता है जो कि व्यवहार कारण है। उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही व्यवहारसे देश, काल, संयोग आदिमें निमित्त कारणपनेका व्यवहार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका?

निमित्तको जाना नहीं पड़ता

जिस समय उपादान कार्यरूप परिणमित होता है उस समय अनुकूल निमित्त अपनी योग्यतासे स्वयं उपस्थित होते हैं।

ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी पदार्थमें जिस समय [illegible] [illegible]

है और यही रागद्वेषका मूल है। संक्षेपमें कहो तो परमें करनेकी जिज्ञासारूपी राग, और बाधकके प्रति द्वेष जब ही आता है जब कि आत्मा परमें अकर्तृत्वपनेके स्वभाव (ज्ञायकमात्र) को भूलकर परमें कर्तृत्व मानने लगता है, और वही परद्रव्यमें एकत्वबुद्धि है जो संसारका मूल है।

अपने ज्ञायक स्वभावके निर्णय और आश्रयमें ही परमें अकर्तृत्व आता है और यही मोक्षका यथार्थ पुरुषार्थ है।

परद्रव्योंसे बुद्धि हटाकर अपने स्वभावकी ओर दृष्टि करनेपर मात्र ज्ञाता-दृष्टापना ही अनुभवमें आता है, अतः रागादि भावोंका अस्तित्व ही नहीं दीखता। इसलिये ज्ञानी मात्र ज्ञायकपनेके सिवाय रागादिकका भी कर्तृत्व नहीं स्वीकारता, उन सबको भी ज्ञेयतत्त्वमें डालता है, क्योंकि रागादि पराश्रय करनेसे ही होते हैं अपने स्वभावसे च्युति होनेपर ही पर्यायमें होनेवाले रागादि अनुभवमें आते हैं, सो उनकी उत्पत्तिमें भी मात्र अपनी वर्तमान पुरुपार्थकी निर्बलताको ही कारण मानता है कोई पर क्षेत्र, काल, संयोग, अथवा कर्मादिको नहीं; फिर भी ज्ञायक स्वभावके जोरमें उनकी उपेक्षा होनेसे रागादि टूटते ही जाते हैं और स्वभावका बल बढ़ता ही जाता है। इसीके जोरमें रागादिको उपचारसे कर्मकृत कहा जाता है, स्वच्छन्दी होनेको नहीं। रागादिकी उत्पत्ति परद्रव्यका आश्रय करनेसे ही होती है और स्वद्रव्य (ज्ञानस्वभाव)का आश्रय करनेसे निरंतर निर्मलताकी उत्पत्ति होती है। ऐसे निर्णयसे ही सर्व विश्वसे उपेक्षा हो जानेसे श्रद्धानमें अत्यन्त निराकुलता आगई, यही परमसुख, स्वाभाविकसुख, आत्मीयसुख है, और उसही ज्ञायक स्वभावकी दृढ़ता एवं रमणतासे चारित्रमें परमनिराकुल शांति होने लगी, और जब अक्रम उपयोगसे मात्र ज्ञायकपना ही रह गया

है। इसी कारण अनादि कालसे इसको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके निमित्तपनेका सम्बन्ध एक-एक पर्यायमें ही संतान-क्रमसे लगा हुआ है। जिस काल यह आत्मा अपने पुरुषार्थसे किंचित् कालके लिये भी पराश्रय छोड़ स्वाश्रयपना स्वीकार करेगा इन द्रव्यकर्मोंका सम्बन्ध भी इसके छूटना ही चला जावेगा और थोड़े ही कालमें सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जावेगी. इस प्रकार ज्ञानी जीव, अपने ज्ञायक स्वभावके बलसे अपनी ही अवस्थामें होने वाले रागादि विभावोंको दूर करनेके लिये, भेदज्ञानके द्वारा, अन्य किसी भावका भी अपनेमें अस्तित्व नहीं स्वीकारनेसे, अन्य सब, जैसे भी जो भी भाव हों, सब पर भावमें डालकर उपेक्षित रहता है और अपने ज्ञानमात्रमें जागृत रहता है। निरंतर एक स्वभावकी ही मुख्यता होनेसे अन्य सब गौण होजाता है।

अपनी पर्यायमें होनेवाले क्षणिक रागादिको अपना स्वरूप नहीं मानते हुए भी वर्तमान पर्यायमें चारित्रमें जितने अंश च्युत होता है उतनी ही अपनी निर्वलता रूपी भूलको स्वीकारता है। इसलिये आप स्वच्छन्दी नहीं बनता।

जिसको अपने स्वभावका ज्ञान नहीं, अपने कर्तव्यका होश नहीं, और समझनेका पुरुषार्थ नहीं, वह कहे कि "मेरे कर्मका उदय ही ऐसा है कि मुझे आत्मरुचि नहीं होती, क्रोधादि होते हैं, क्या करें, कर्म जैसा नचाता है वैसा ही नाचना पड़ता है, यह जीव तो कर्मका खिलौना है, आदि आदि"—ऐसा जो कोई मानता है वह मिथ्याती, सांख्यमतीकी भांति है।

श्री स्वामी अमृतचन्द्राचार्यने भी समयसारके कलश २०५ में ऐसा ही कहा है कि—

बतलानेका नहीं है लेकिन स्वभावसे च्युत होनेके समय संयोगसम्बन्ध (निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध) किस प्रकारका उपरोक्त रूपसे होता है यही बतलाकर भेदज्ञान करानेका तथा अपने चिदानन्द स्वरूपमें रमणता करानेका ही प्रयोजन है।

इसलिये जहां यह विषय आवे उपरोक्त अपेक्षा लगाकर समझनेसे यथार्थ वस्तु समझनेमें कभी भूल नहीं होगी और यथार्थ मार्ग मिलेगा अन्यथा अनादि कालसे जो "अपनी भूल दूसरेके सिर डालकर स्वयं भूल रहित स्वच्छन्दी बननेका अभ्यास" पड़ा हुवा है वही जारी रहेगा, जिससे संसार-भ्रमणका कभी अंत नहीं आ सकता।

गोम्मटसारादिकी कथनीकी उक्त कथनसे संधि

अब यहां कोई कहे कि गोम्मट्टसारादिक बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें स्थान-स्थान पर यह आता है कि आत्माको तीव्र क्रोधकषायरूप द्रव्यकर्मके उदयमें तीव्र क्रोध होता है, मंद उदयमें मंद आदि-आदि, तो यह कैसे? उसका समाधान यह है कि यह कथन संयोग-सम्बन्ध बतलाने मात्रको है, वास्तवमें तो आत्माकी स्वभावसे च्युतिका नाम ही विभाव है, वह विभाव च्युतिकी अपेक्षासे सामान्य रूप है, तो भी तारतम्यताकी अपेक्षासे तथा जुदा-जुदा गुणोंकी पर्यायोंकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका है और उस विभावके समय जिस निमित्तरूप परद्रव्यका आश्रयपना स्वीकार है वह भी अनेक प्रकारका है, फलतः विभावके भी अनेक प्रकार प्रत्यक्ष ही अनुभवमें आते हैं इसलिये जितने प्रकार विभावोंके हैं उतने ही प्रकार उन निमित्तरूप परद्रव्योंके हैं, विभाव समय-समयकी अपेक्षा अनन्त प्रकारको लिये है इसलिये निमित्त भी अनंत प्रकारके हैं। आचार्योंने निमित्तकी मुख्यतासे कथन करके उपादानमें होने वाले विकारी

है। वीतरागका अर्थ यह है कि वीत अर्थात् गया है; राग अर्थात् रंजना भेद द्वारा इस प्रकार होना; ऐसा भाव हो जाये उसको वीतराग कहते हैं। इससे यह जाना जाता है कि अपनी पूर्व अवस्थामें वह पुरुष रागी था; क्योंकि गया तो तब कहलाये जब (पूर्वमें) हो, अन्यथा ऐसा नाम प्राप्त न करे। अतः इसके राग था, वह नाश गया तब वीतराग परमेश्वर कहलाया।

था वही प्रत्यक्ष रह जाता है। वह वस्तुत्वभाव तो स्वयं परम पुरुष है, वही है। कछु स्वयं स्व वही वस्तु है। जो गया वह विकार ही था। उस पुरुषका ही कुछ भूलरूप भ्रम है। पुरुषका मूल वस्तुत्वभाव तो वह है जो इस भूलके जाने पर रहता है।

जब इस विधि (प्रकार) यथार्थरूपसे वीतरागकी जंगम-स्थावर (चेतन या जड़) प्रतिमा देखनेसे विचार आया तब ही अपनी ओर (तरफ) देखने पर विचार आया, विचार करने पर स्वयंको भी क्या देखा? निःसंदेह स्वयंको सरागी देखा। इस प्रकार स्वयंको सरागी देखनेसे यह निर्णय हुआ कि जैसे यह जीव (भी पूर्वदशामें) सरागी था, (अब) वीतराग होकर वस्तुत्वभावरूप रह गया है, वैसे ही मेरा भी विकार-राग वीतेगा (छूटेगा) तब मैं भी वस्तुत्वभावके रूपको इसी प्रकार प्रत्यक्ष (प्रगट दशामें शुद्ध) हो जाऊँगा।

निःसंदेह तो मैं-जो मूल वीतराग वस्तुत्वभाव है, वही मैं हूं। उस वस्तुभावसे मैं अभेद ही हूं। और जो यह रागादिका प्रसार है वह विकार है। कुछ वस्तुत्व-भावमें तो वह नहीं है। वस्तुत्वभावके ऊपर-ऊपर कुछ दोष उत्पन्न हुआ है। मूलरूपसे मैं वही हूं जो इस विकारके जाने पर रह जाता है। निःसंदेह मैं वही हूं। और यह विकारका सर्व प्रसार काल पाकर जायेगा तो जाओ, परन्तु मैं तो मूल वीतरागरूप स्वभाव हूं। तो इस प्रकार वीतरागकी प्रतिमा देखनेसे स्वयंको ही वीतरागसे अभेद सम्यक् (भली

कहता है वही गुरु पदवीको शोभित होता है।

भावार्थ—अट्ठाईस मूलगुण, बाईस परीषह, पंचाचार आदि सहित विराजमान, परमाणुमात्र बाह्य परिग्रह नहीं है और अंतरंगमें भी परमाणुमात्र परिग्रहकी इच्छा नहीं है, अनेक उदासीन भावोंसे विराजमान है और निज जाति-स्वरूपको साधते है, सावधान हो समाधिमें लीन होते हैं। संसारसे उदासीन परिणाम किये है, ऐसे जो जैन साधु है, अपनेको तो वीतरागरूप अनुभवते ही हैं और मनको स्थिरीभूत करके जब किसीको उपदेश भी देते हैं तो अन्य सब छोड़कर जीवके एक निज वीतरागस्वरूपको ही बारं-बार कहते है। उनके अन्य कुछ अभ्यास नहीं है, यही एक अभ्यास है। स्वयं भी अंतरंगमें स्वयंको वीतरागरूप अभ्यास करते हैं और बाह्यमें भी जब बोलते है, तब आत्माका वीतराग स्वरूप है, यही वचन बोलते है। ऐसा वीतरागका उपदेश सुनते ही निकट-भव्यको निःसंदेहरूपसे निज वीतरागस्वरूपकी सुधि होती है। इसमें संशय नहीं है। जिस साधुके वचनमें ही ऐसा वीतरागका ही कथन है, उस जैन साधुको ही 'निकटभव्य' गुरु कहते है; क्योंकि अन्य कोई पुरुष तत्त्वका ऐसा उपदेश नहीं कहता है अतः इस पुरुषको ही गुरुकी पदवी शोभायमान होती है, अन्यको शोभायमान नहीं होती। यह निःसंदेह रूपसे जानना। इति गुरु अधिकारः।

(४) विधिवाद

सहावं कुणोदि दव्वं, परणमदि णिय सहाव भावेसु ।
तमयं दव्वस्सविहिं, विधिवादं भणइ जिनवाणी ॥४॥

स्वभावं करोति द्रव्यं परिणमति निजस्वभाव भावेषु ।
तमयं द्रव्यस्य विधिर्विधिवादं भणति जिनवाणी ॥४॥

नहीं कर सकता है, सो कारण क्या?

समाधान—एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं। मोक्षका उपाय बनता है तब तो पूर्वोक्त तीनोंही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता है. तब तीनों ही कारण नहीं मिलते हैं। पूर्वोक्त तीनों कारणोंमें काललब्धि या होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस कालमें कार्य बने वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा कर्मका उपशमादि है, सो पुद्गलकी शक्ति है। उसका आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थसे उद्यम करते हैं, वह आत्माका कार्य है। अतः आत्माको पुरुषार्थ द्वारा उद्यम करनेका उपदेश देते हैं। तब यह आत्मा जिस कारणसे कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करता है, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्यकी भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारणसे कार्यसिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करता है, तब अन्य कारण मिलते हैं तो कार्य सिद्धि होती है, नहीं मिलते तो सिद्धि नहीं होती। जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा है उससे मोक्ष होती ही होती है। अतः जो जीव पुरुषार्थ द्वारा जिनेश्वरके उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करता है, उसके काललब्धि या होनहार भी हुई और कर्मका उपशमादि हुआ है, तो वह ऐसा उपाय करता है। अतः जो पुरुषार्थ द्वारा मोक्षका उपाय करता है, उसको सब कारण मिलते हैं, ऐसा निश्चय करना। और उसको अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(५) चरितानुवाद

रायदोह भावाणं, उदियभावाणं कहाकहणं जहा ।
तं चरियानुवायं हि, जिण समय णिद्दिट्ठं तहा ॥ ५ ॥

रागदोषभावानां औदयिकभावानां कथाकथनं यथा ।
तं चरितानुवादं हि, जिन समये निर्दिष्टं तथा ॥ ५ ॥

हि सत्येन यथा येन प्रकारेण रागदोषभावानां पराचरणभावानां वा औदयिकभावानां दुखास्वादभावानां कथाकथनं स्वरूप कथनं तं कथनं चरितानुवादं–चरित्रवादं–जिन समये द्वादशांगे निर्दिष्टं कथितं ।

निश्चयसे जिस जिस प्रकारसे पर आचरणभावों हीका, अथवा शुभ–अशुभ स्वादभावोंहीका जो स्वरूपकथन, उस कथनको चरितानुवाद संज्ञा (नाम) द्वारा द्वादशांगमें कहा गया है।

भावार्थ—पुद्गल स्वामित्व–मिथ्यात्व वह पर आचरणका कथन है और उच्चस्थानसे गिरना और वह गिरना भी पराचरणको ही प्रगट करता है। अज्ञानीके स्थूल बन्ध और अबुद्धिपूर्वक जघन्य ज्ञानीके सूक्ष्मबंध. इस प्रकार बंधहीका भाव, वह भी पराचरणकी प्रसिद्धता है तथा

अधोमध्योर्ध्वलोका जैनोक्त लोकालोका या षट् सर्वं द्रव्याणि हि स्थूलं यथा येन येन प्रकारेण शाश्वतं नित्यं तिष्ठन्ति तं यथा शाश्वतं भावं समये परमागमे यथा स्थितं भणति ।

जो अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक हैं तथा लोक-अलोक हैं तथा छह द्रव्य हैं वे सब अपनी अपनी शाश्वत स्थितिसे जैसे जैसे स्थित हैं उस शाश्वत स्थितिको जिनागममें यथास्थिति कहते हैं ।

भावार्थ—सात नरकोंकी जैसी शाश्वत स्थिति है, असंख्यात द्वीप समुद्रोंकी, सोलहस्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पंच पंचोत्तर (विजयादि) विमान सिद्धशिला, सर्व (तीनों) वातवलय—इनकी जैसी शाश्वत स्थिति है वैसी स्थिति सदा शाश्वत रहती है। तथा लोकाकाशकी और अलोकाकाशकी जैसी स्थिति है वैसी स्थिति शाश्वत है। जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहों द्रव्य अपने अपने जैसे जैसे गुणों द्वारा अपनी अपनी जैसी जैसी पर्यायों द्वारा सदा शाश्वत स्थितिमे स्थित हैं। अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता द्वारा अपनी अपनी जैसी जैसी स्थिति है, वैसी स्थितिसे कभी भी चलायमान नहीं होते। सदा जैसेके तैसेही रहते हैं, उसका नाम यथास्थितिभाव है। ऐसा यथास्थितिभावका कथन भी द्वादशांगमें प्रचलित है। इति यथास्थितिवाद जानना।

द्रव्योंको भिन्न–भिन्न जानता है, उन एक एक परद्रव्यके अनंत गुणोंको जानता है, उन एक एक पर गुणकी अनंत-शक्ति जानता है, तथा उन पर द्रव्य–गुणोंका परिणमन तीनों कालका भिन्न भिन्न जानता है। तथा छहों द्रव्योंके गुण–पर्यायोंके निज जाति स्वभावरूप भावको भिन्न जानता है। तथा जीवके परभावको भिन्न जानता है, पुद्गलके परभावको भिन्न जानता है। संसार परिणति और मुक्ति परिणतिको जानता है।

भावार्थ—जितना द्रव्य–गुण–पर्यायभाव है, उतना सब साक्षात् जानता है। ऐसा जो कुछ भी है, सर्व ज्ञान गुणके जाननेके गोचर होना, वह सब ज्ञेय नाम पाता है। ज्ञानके गोचरको आगममें ज्ञेय कहा जाता है सो जानना। इति ज्ञेयवाद। ७।

---

(८) हेय व्याख्या

[illegible] सभावे परिणमदि, तह विभावो सयं सहयेण होयदि।
[illegible] हेयभावं, हेयभाव मिणयं जिणणिद्दिट्ठं ॥ ८ ॥

[illegible] स्वभावे परिणमति, तथा विभावो स्वयं सहजेन होयति।
[illegible] हेयभावं, हेयभाव मिदं जिननिर्दिष्टं ॥ ८ ॥

[illegible] आत्मदर्शनचारित्रात्मनि निज जाति स्व- [illegible] परिणमति. [illegible] वा [illegible] विभावो [illegible]

समयप्राप्तौ काललब्धिप्राप्तौ सति स्वसमयस्य चारित्रस्य निजस्वरूपस्य परिणामैः आचरयति व्याप्नोति वा अथवा एवं स्वरूपं परिणमति तं स्वस्वरूपं उपादेयं आचरणं जिन भणति।

अर्थ—जैसे जैसे काललब्धिकी प्राप्ति होती जाती है उस उस काललब्धिकी प्राप्तिमें आत्मचारित्रगुणका (निज-रूप आत्माहीका) आचरण परिणामों द्वारा व्यक्त व्याप्त होता है, अथवा इस प्रकार भी कहो, वह स्वरूपाचरण ही प्रवर्तता है। उसी स्वचरण परिणमनको (स्वरूपाचरणके परिणमनको) जिनदेव–उपादेय संज्ञा द्वारा कहते हैं।

भावार्थ—जो जो स्व-चारित्रकी शक्तियाँ विकाररूप हो रही हैं, वह वह काललब्धि प्राप्त होने पर (निज) परिणामोंके परिणमनसे उस स्वचारित्रकी निजरूप होती है यही स्वरूप ग्रहण है। इस प्रकार कोई कहे कि उस स्व-चारित्रका स्वरूप प्रगट होकर प्रवर्तता है वह भी स्वरूप ग्रहणका ही कथन है, ऐसे प्राप्तिरूप स्वरूपके *परिणमनको उपादेय संज्ञा जिनदेवने भी कही है, उसे 'उपादेय' [illegible] जानना। इति उपादेय स्वरूप व्याख्यानं।

[illegible]विभावनिका नास्तिपना वह 'हेय' जानना और स्वरूपकी शुद्धताका प्रगट होना वह उपादेय जानना। एक ही [illegible] दोनों होते जाते हैं। यही निश्चय हेय–उपादेय जानना। व्यवहारसे परपरिणामनि राग, द्वेष, मोह, क्रोध,

* [illegible] और [illegible] प्रगट करनेके अर्थमें उपादेय है।

होना तथा पुद्गलादिकी गति द्वारा कालद्रव्यका प्रमाण परिमाण उत्पन्न होना है, छहों द्रव्य परज्ञेय ज्ञानमें हैं, ज्ञान छहों परज्ञेयमें, ज्ञान–दर्शन–गुणोंकी एक एक शक्ति एक एक स्व पर ज्ञेय भेदोंके प्रति लगाना, ऐसे ऐसे भाव तथा परस्पर सर्व द्रव्योंका मिलाप होना, ऐसे ऐसे पर्यायों-के भाव तथा विकार उत्पन्न हुआ, स्वभाव नष्ट हुआ, पुनः स्वभाव उत्पन्न हुआ, विकार नष्ट हुआ, जीव उत्पन्न हुआ, जीवका मरण हुआ, यह पुद्गल स्कन्धरूप हुआ या कर्मरूप हुआ या अविभागी पुद्गल हुआ, संसार परिणति नष्ट हुई, सिद्ध परिणति उत्पन्न हुई, तथा मोह, अंतराय कर्मोंकी रोक नष्ट हुई। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत स्वचरित्र वह अनन्त वीर्य द्वारा प्रगट हुए। मिथ्यात्व नष्ट हुआ, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ, अशुद्धता नष्ट हुई, शुद्धता उत्पन्न हुई, पुद्गलसे जीव बंधको प्राप्त हुआ, जीवका निमित्त प्राप्त होने पर पुद्गल कर्मरूप हुए। जीवने कर्म नष्ट किये, यह यह उत्पन्न हुआ, यह यह नष्ट हुआ, वह उत्पन्न हुआ, वह नष्ट हुआ, ऐसे ऐसे पर्यायोंके भाव ऐसे ऐसे पर्यायोंके उत्पन्न और नष्ट भाव सर्व व्यवहार नाम पाते हैं।

तथा एक आकाशके लोक-अलोक भेद करना, कालकी वर्तनाका अतीत, अनागत, वर्तमान भेद करना। तथा इसी प्रकार एक वस्तुका द्रव्य, गुण, पर्यायसे भेद करना। एक वस्तुका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे भेद करना। एक वस्तुका कर्ता–कर्म–क्रियासे भेद करना, एक जीववस्तुका बहिरात्मा,

(११) निश्चय लक्षण

जेसिं गुणाणं पचयं, णियसहावं च अभेवभावं च।
दव्व परिणमनाधीनं, तं णिच्छय भणियं ववहारेण ॥ ११ ॥

येषां गुणानां प्रचयं, निजस्वभावं च अभेदभावं च।
द्रव्य परिणमनाधीनं, तं निश्चयं भणितं व्यवहारेण ॥ ११ ॥

येषां गुणानां प्रचयं एक समूहं तं निश्चयं। पुनः येषां द्रव्य-गुण-पर्यायाणां निजस्वभावं निज जाति स्वरूपं तं निश्चयं। पुनः येषां द्रव्य–गुणानां गुणशक्ति पर्यायाणां यं अभेदभासं एक प्रकाशं तं निश्चयं। पुनर्येषां द्रव्याणां यं द्रव्य परिणमनाधीनं तस्य द्रव्यस्य परिणाम आश्रयं भावं तं निश्चयं, एतादृशं निश्चयं व्यवहारेण वचनद्वारेण भणितं वर्णितं।

अर्थः—जिन जिन अनन्त निज गुणोंका जो परस्पर एक ही समूह–पुंज वह निश्चयका रूप जानना। तथा निज निज द्रव्य-गुण-पर्यायोंकी जो निज केवल जातिस्वरूप वह भी निश्चयका रूप जानना। एक द्रव्यके अनन्त गुणोंका, एक गुणकी अनन्त शक्ति पर्यायोंका जो एक ही स्वरूप द्वारा भाव प्रगट होता है वह भी निश्चयभाव जानना। और जिस द्रव्यके परिणामोंके परिणमनके आधीन द्रव्यके भावका उसही द्रव्यके परिणामरूप परिणमना अन्य परिणामरूप न परिणमना सो निश्चय जानना। ऐसे ऐसे भावोंको वचन द्वारसे निश्चयसंज्ञा कही है।

भावार्थः—हे संत! जो ये विज निज अनंत गुण मिलकर एक पिंडभाव–एक संबंध हुआ, उसे गुणोंका पुंज

कहते हैं। उस गुण पुंजका 'वस्तु' ऐसा नाम कहते हैं। सो यह वस्तुत्व नाम गुणोंके पुंजके बिना अन्य किसको कहना? इस गुण पुंजको वस्तु कहते हैं। इस वस्तुत्वकी निश्चय संज्ञा जानना।

जो जो जिस जिसरूप धारण किये हुए जो जो गुण उत्पन्न हुआ है, वह वह अपना अपना रूप धारण करता है। गुणका अन्य गुणोंसे अपना पृथक् रूप अनादि अनंत रहता है इस पृथक् रूपको निज जाति कहते हैं। आप ही आप अनादि निधन है। वह रूप किसी अन्य रूपसे नहीं मिलता। जो रूप वही गुण, जो गुण वही रूप ऐसा तादात्म्य लक्षण है। जो कोई इस रूपकी नास्ति चिंतवन करे तो उसने गुणकी नास्ति चिंतवन करी। ऐसा जो आप ही आप रूप है उस रूपको निज जातिस्वभाव कहते हैं। ऐसे निज रूपको निश्चय संज्ञा कहते हैं।

पुनः अनंत गुणोंका एक पुंज भाव देखना तथा भिन्न नहीं देखना, पुनः अनंत शक्तिवान् जो गुण है उस एक गुणको देखना, उन शक्तियोंको न देखना, तथा जघन्य उत्कृष्ट भेद न देखना, ऐसा जो अभेद दर्शन—एक ही रूपका दर्शन है उस अभेद दर्शनको भी निश्चय संज्ञा कहते हैं।

पुनः हे सन्त ! गुणके पुंजमें कोई गुण तो नहीं है, यह तो निःसंदेह इसी प्रकार है। परन्तु वह भाव उन गुणोंका परिणाम धारण कर परिणमता है वह भाव इन गुण परिणामोंसे भिन्न नहीं है। उसी भावसे पूर्ण परिणमता है। वह कहां पाया जाता है ?

जैसे पुद्गल वस्तुमें स्कंध कर्म विकार कोई गुण तो नहीं है, परन्तु इस पुद्गल वस्तुके परिणाम उस स्कंध कर्म विकारभावका स्वांग धारण किये हुए परिणमते हैं। अन्य द्रव्यके परिणाम इस कर्म विकारभावको धारण कर परिणमन करते हैं। यह एक पुद्गल ही निःसंदेह स्वांग धारण कर वर्तता है। पुनः इस जीव वस्तुके परिणाम रंजक, संकोच विस्तार, अज्ञान, मिथ्यादर्शन, अविरतादि चेतना विकारभाव हुए परिणमन करते हैं, सो ऐसा चेतन विकारभाव जानना। तथा (वे विकारभाव) उस चेतनद्रव्यके परिणामोंमें तो पाये जाते हैं अचेतन द्रव्यके परिणामोंमें तो कभी भी नहीं पाये जाते हैं यह निःसंदेह है। ऐसे विकारभाव अपने ही अपने द्रव्य परिणामोंमें ही होते हैं, उसी उसी द्रव्यके परिणाम आश्रित पाये जाते हैं, वह भी निश्चय संज्ञाको प्राप्त होते हैं। इति निश्चय।

चकारसे अन्य भी निश्चय भाव जानने। जितनी निज वस्तुकी परिमिति (सीमा) उतनी परिमितिमें ही द्रव्य-गुण-पर्याय, व्याप्य-व्यापक होकर वर्तता है उस वस्तुकी सीमाके वाहर नहीं। अपनी अपनी सत्तामें व्याप्य-व्यापक होकर अनादि अनंत रहते हैं। इसको भी निश्चय कहते हैं। तथा जो भाव जिस भावका प्रतिपक्षी वैरी-(शत्रुता) करता है, वह उसीसे वैर-(शत्रुता) करता है, अन्यसे नहीं करता है, वह भी निश्चय जानना। तथा जो प्रतिज्ञा करना, नियम करना, उसे भी निश्चय कहते हैं। तथा जो जिस कालमें जैसी जो होनी है, वैसी ही वह होती है, उसे भी निश्चय कहते हैं।

तथा जिस जिस भावकी जैसी जैसी रीतिसे प्रवर्त्तना है वैसी वैसी रीति प्राप्त होने पर परिणमता है उसे भी निश्चय कहते हैं। तथा एक आपका, स्वद्रव्यका, भी निश्चय नाम है। तथा एक है, एक रूप गुण मुख्य लेने पर अन्य सर्व अनन्त निज गुणरूप, उस गुणरूपके भाव होते हैं।

भावार्थ—कथनमें तो एक भिन्न रूप लेकर कहते हैं, परन्तु वही एक गुणका रूप है. वही सर्व रसका (रूप) है तथा जो कोई इसी प्रकार मानता है—एक रूपमें अन्य

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा तह जिणिदो वा ॥३२२॥

भावार्थः—जो जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे, जन्म तथा मरण उपलक्षणसे दुःख, सुख, रोग, दारिद्र आदि सर्वज्ञ देवने जाना है वह वैसे ही नियमसे होगा, वही उस प्राणीके, उसही देशमें, उसी कालमें, उसी विधान द्वारा नियमसे होता है, उसको इन्द्र तथा जिनेन्द्र, तीर्थंकरदेव कोई भी निवारण नहीं कर सकते हैं।

("स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा")

जो जो देखी वीतरागने, सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहीं कोई काहे होत अधीरा रे ॥ १ ॥
समयो एक बढ़ै नहीं घटसी जो सुख दुखकी पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे ॥ २ ॥

[illegible], परमार्थ पद पंक्ति, [illegible] श्री राग [illegible]

रूप नहीं है, एक ही है, वहाँ अनर्थ उत्पन्न होता है। जैसे एक ज्ञानगुण है, उस ज्ञानमें अन्य नहीं है, तो उस पुरुषने वह ज्ञानचेतनरहित, अस्तित्व, वस्तुत्व, जीवत्व, अमूर्त्तादि सर्व रहित माना। वह तो माना, परन्तु वह ज्ञानगुण कैसे रहा? किस रीतिसे रहा? वह न रहा। अतः यहाँ यह बात सिद्ध हुई कि जो एक एक गुण रूप है वह सर्वस्व रस है। इस प्रकार सर्वस्वरसको भी निश्चय कहते हैं।

तथा कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे नहीं मिलता, कोई गुण किसी गुणसे नहीं मिलता, कोई पर्याय शक्ति किसी पर्याय शक्तिसे नहीं मिलती, इस प्रकार जो अमिश्रण–(पृथक्)भाव उसे भी निश्चय कहते हैं।

निश्चयको सामान्य अर्थसे इतना कहना—संक्षेपसे इतना ही अर्थ जानना—"निज वस्तुसे जो भावका व्याप्य-व्यापक एकमेक संबंध सो निश्चय जानना"। कर्त्ता भेदमें कर्म भेदमें भी, क्रिया भेदमें भी, इन तीन भेदोंमें एक ही भाव देखना, ये तीनों एक भावके उत्पन्न हुए, ऐसे एक भावको भी निश्चय कहते हैं। स्वभाव गुप्त है अथवा प्रगट परिणमता है परन्तु नास्ति तो नहीं है, ऐसे अस्तित्व-भावको निश्चय कहवे हैं। ऐसे ऐसे भावोंको निश्चय संज्ञा जाननी, जिनागममें कहो है। इति निश्चय संपूर्णम्।

वीर्य, आत्मभोगादिगुण; इस प्रकार अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, अवीर्य (निर्बल), पराचरण, परभोगादि विकार-रूप परभावरूप हुए। फिर जैसे जैसे काललब्धि प्राप्त हुई, वैसे वैसे वह परभाव क्षय होता गया, स्वभाव प्रगट होता गया इस प्रकार होते होते जिस कालमें वह परभाव सर्वथा नष्ट हुआ, उसी समयमें सर्वथा अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यादि, अनंतगुण निजरूपसे केवल प्रगट हुए–सर्वथा अपने ही रूप हुए–अन्यथारूप नष्ट हो गया–सर्वथा साक्षात् गुणोंका निजरूप ही रहा, तथा कथंचित् अन्यका लगाव × गया, साक्षात् निज जातिरूप हुआ सो ऐसा आत्माके गुणोंका परमभाव जानना। तथा उसीकाल उनही साक्षात् गुणोंकी पर्याय परिणमन एक समय सूक्ष्ममें षट् गुणी हानि-वृद्धिसे स्वस्वरूप हुई; वह पर्याय साक्षात् केवलरूप उत्पन्न हुई। ऐसी षट्गुणी हानि–वृद्धि सूक्ष्मपर्यायके स्वस्वरूपको भी आत्माका परमभाव कहते हैं

तथा जीवद्रव्यके प्रदेशोंका कायादियोग पुद्गल-वर्गणाके उठने–बैठनेके निमित्तसे संकोच विस्ताररूप कंपन होता था, तथा जब कायादि पुद्गल वर्गणाओंका सर्वथा प्रकारसे अभाव हुआ, तब जीवद्रव्यके प्रदेशका वज्रवत् निःप्रकंपस्वभाव सर्वथा साक्षात् हुआ, ऐसा भी आत्माका परमभाव जानना। ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों सर्वथा साक्षात् परम स्वरूपरूप हुए, तब इस आत्माके केवल निजस्वभाव ही धर्म होता है एक सर्वथा निजजाति केवल

× लगाव = सम्बन्ध

एक स्वरूपरूप प्रवर्तना है, इस कारणसे इस आत्माका ऐसा ही धर्म कहते हैं। क्योंकि वहाँ उस कालमें निजही-रूप है, अन्य कुछ भाव नहीं है। अतः 'धर्म' ऐसा आत्मा कहा जाता है। सो ऐसा साक्षात् धर्मका कथन जिनागममें जानना ।। इति साक्षात् धर्मः ।।

(१३) बहिर्धर्म

जत्थ गुणविभावं सिय पज्जाय विभावं च दव्व विभावं च ।
अप्पा किल वहिधम्मं, पुणो तं अधम्मवायं णायव्वा ॥ १३ ॥

यत्र गुण विभावं स्यात्, पर्याय विभावं च द्रव्यविभावं च ।
आत्मा किल वहिधर्म पुनः तं अधर्मवादं ज्ञातव्यः ।। १३ ।।

यत्र यस्मिन् काले आत्मा गुणविभावं गुणविकारं यं किल सर्वथा स्यात् तं वहिधर्म, पुनः आत्मा पर्याय विभावं यं किल सर्वथा स्यात् तं वहिःधर्म पुनः आत्मा द्रव्य विभावं यं किल सर्वथा स्यात् तं वहिःधर्मं, एतादृशं वहिःधर्म अधर्मवादं–अस्वभाववादं–परस्वभाव कथनं जिनागमे ज्ञातव्यः।

अर्थ—जिस कालमें आत्माके गुण सर्वथा परभावरूप होते हैं उसकालमें आत्माको वहिर्स्वभाव कहते हैं। जिस-कालमें आत्माकी पर्याय सर्वथा विकाररूप होती है उस-कालमें इस आत्माको वहिरधर्म कहते हैं। तथा जिस कालमें आत्माका द्रव्य× सर्वथा विकाररूप परिणमित होता

× सर्वथा विकाररूप अर्थात् मिथ्यात्वरूप–पराश्रयरूप अशुद्धदशा,

है उस कालमें इस आत्माको बहिर्धर्म कहते हैं। ऐसा अधर्मका कथन जिनागममें जानना।

भावार्थ—अज्ञान, अदर्शन, मिथ्यात्व, पराचरण, अवीर्य, पररस भोग इत्यादि जो गुणोंका विकारभाव है वह एक अक्षरके अनंतवें भाग विकार छोडकर अन्य सर्वथा विकाररूप हुआ, गुण सर्वथा उस विकारभावरूप होते हैं स्वभावरूप कुछ भी नहीं। ऐसे सर्वथा गुणके विभावको बहिःधर्म कहते हैं। तथा जो गुण ही सर्वथा विकाररूप हुए, तो उनके परिणाम, परिणमनभाव सहज ही सर्वथा विकाररूप हुए। जैसे पानी रंगा गया तो उसकी लहर रंगीन सहज ही हो गई। ऐसी विकार पर्याय स्थूल पर्याय है। वह विकार परिणमन इन्द्रियज्ञान द्वारा कुछ जाना जाता है। वह क्या है?

बहुत काल तक उस एक विकारभावके परिणमन प्रवाहित होते रहते हैं, वह स्थूल कालके प्रवाहसे जाना जाता है, ऐसी गुणोंकी सर्वथा विकार स्थूलपर्याय भी आत्माका बहिस्वभाव है। तथा जब गुण-पर्याय सर्वथा विकाररूप हुए, तब द्रव्य तो (उसी समय पर्याय अपेक्षा) स्वयं ही सर्वथा विकाररूप हुआ। जैसे सर्व तंतु रंगीन हुए तो वस्त्र सहज ही सर्वथा रंगीन हुआ। तंतुसे वस्त्र कहीं पृथक् नहीं था। तंतुओंके मिलापको ही वस्त्र कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य सर्वथा विकारी हुआ तब उस आत्माको बहिर्भाव कहते हैं। ऐसे सर्वथा विकाररूप द्रव्य-गुण-पर्यायको आत्माका (विभावरूप अनित्यस्वभाव) बहि-

स्वभाव कहते हैं, क्योंकि अपनी वस्तुमें[1] कुछ भाव नहीं होता है, परन्तु[2] अन्य ही परभाव-विकारभाव-वस्तु समुदाय-से बाहरका ऊपरीभाव हुआ है अतः इसको बहिर्धर्म कहते हैं। तथा यह आत्मधर्म नहीं है अतः इसको आत्माका अधर्मभाव कहते हैं। इति बहिर्धर्मः ॥ १३ ॥

---

(१४) मिश्रधर्मकथन

गुण धम्माधम्मं परिणमदि, दव्व पज्जायं च धम्माधम्मं फुडं।
मिस्सधम्मं जया अप्पा, तं मिस्सधम्मं भणइ जिणो ॥ १४ ॥

गुण धर्माधर्मं परिणमति, द्रव्यं पर्यायं च धर्माधर्मं स्फुटं।
मिश्रधर्मं यदा आत्मानं मिश्रधर्मं भणंति जिनाः ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन् काले स्फुटं प्रगटं आत्मा गुण धर्माधर्म परिणमति, गुणस्वभाव (गुणस्वभावो) विभावं परिणमति यं तं मिश्रधर्मं विकार कलंक निजस्वभावं, पुनः तदा आत्म पर्यायं द्रव्यं धर्माधर्मं सहजेन आयातं तं मिश्रधर्मं एतादृशं मिश्रधर्मं जिनो भणति कथयति।

अर्थ—जिसकालमें आत्माके गुण धर्माधर्मरूप परि-णमते हैं, उस कालमें प्रगट आत्माको मिश्रधर्म कहते हैं तथा जब आत्माके गुण मिश्रधर्मरूप हों, तब आत्माके पर्याय

---

१ नित्य ऐसे वस्तुस्वभावमें अशुद्धता कैसी ?
२ अनित्य ऐसे पर्याय स्वभावमें

द्रव्यरूप तो सहज ही मिश्रधर्मरूप हुए; ऐसे आत्माके मिश्रधर्मको जिनेंद्रने प्रगट कहा है।

भावार्थ—जब निकट भव्य जीवको काललब्धि प्राप्त हुई तब जो पूर्वमें मिथ्यात्वरूप परभेष धारण किये हुए प्रवर्तन कर रहा था वह प्रवर्तन समाप्त हुआ–नष्ट हुआ। उसी कालमें निज स्वाभाविक स्वरूप द्वारा व्यक्तरूप प्रवर्तन हुआ। उस भव्य जीवको निजरूप क्या प्रगट हुआ? वह कहते हैं—

जीवका एक सम्यक्त्व गुण है। उस गुणका लक्षण आस्तिक्य अर्थात् प्रतीति–दृढ़ता–यह बात इसीप्रकार है, इसमें हलचल नहीं है, ऐसी आस्तिक्य शक्ति है। उस आस्तिक्य शक्तिके दो भाव होते हैं–एक निजजातिभाव और एक विकाररूप औपाधिक दोषरूप–अर्थात् निजजातिसे अन्य; ऐसा परभाव। उस आस्तिक्य शक्तिका अनादिसे निज जातिभाव तो गुप्त है। परभावका भेष प्रगट होकर आस्तिक्य शक्ति प्रवृत्त हुई। वह परभावरूप धारण करती है। आस्तिक्य शक्ति कैसी है?

जो भ्रम है, झूठ है, मिथ्या है, जो कुछ (प्रयोजनभूत तत्त्वमें) मिथ्या बात है उसको ठीक मानवेरूप (मिथ्यात्वका) प्रवर्तन है उसीको (वह) आस्तिक्य कहते हैं। ऐसे परभावके अस्तित्व कहाँ तक रहता है कि–पुद्गलके कर्म विकारके* रहनेतक रहता है।

---

* यहाँ पुद्गलकर्मके विपाकके रहने तक परभावरूप रागादि क्यों

तथा इसी इसी प्रकार क्रम वर्तते हुए; पुद्गल विपाककी नास्तिकी ¹काललब्धि आई, तब पुद्गल विपाक नष्ट हुआ। तभी उसीकालमें अस्तित्वशक्तिका जो परभावरूप

कहा? कि यह जीव स्वद्रव्यका आलम्बन पूर्णतया करे तो परभाव-रागादि नहीं होते, किन्तु रागादिमें तो परद्रव्यका ही आलम्बन होता है। यहां उपादान-निजशक्तिमें जब स्वाश्रय हुआ तबसे प्रकाश होते ही अंधकार उत्पन्न नहीं होता उसी दृष्टान्तवत् त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानस्वभावका स्वामीत्व और आलम्बन करने पर सर्वथा मिथ्यात्वका और भूमिकानुसार रागादिक उत्पन्न ही नहीं होता निमित्तका ज्ञान करानेमें ऐसा समझना कि—निज शुद्ध उपादान जागृत हुआ है तभी पुद्गल कर्म विपाकका अभाव हुआ और स्वाश्रयके बलसे हेय-उपादानको यथार्थ जाननेरूप निज परिणामकी प्राप्ति होती है।

१ यहां काललब्धिकी एक विवक्षा है, कार्तिकेयानुप्रेक्षामें प्रत्येक समय छहों द्रव्यकी काललब्धि कही है। जीवमें जब पात्रताकी पक्वता-भव्य भावका विपाक अर्थात् निजपरिणामोंकी प्राप्तिरूप सम्यक् पुरुषार्थ होता है उसी परिणामको अध्यात्मभाषामें स्वकाल स्वसन्मुख परिणाम अन्तरंग स्वकीय उपादान परिणामाधीनपना कहा है। देखो श्री रायचंद जैन शास्त्रमाला समयसार जयसेनाचार्य सं. टीका पृष्ठ २१३ "धर्मलब्धिकाल; पृ. ३१८ गा. ७१ तथा" कालादिलब्धि वशेन भव्यत्वशक्तिर्व्यक्तिर्भवति तदा अयं जीवः सदा शुद्ध पारिणा-मिकभाव लक्षण निजपरमात्मद्रव्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण पर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक भावत्रय भण्यते।

जानता है तब व्यय ध्रौव्यके भेद भावोंको नहीं जानता जब गुणरूपको जानता है तब द्रव्यरूपको नहीं जानता है। जब पर्यायरूपको जानता है, तब गुणरूपको नहीं जानता। जब ज्ञानका रूप जानता है, तब चेतना वस्तुत्वको नहीं जानता है। जब चेतना वस्तुत्वको जानता है, तब ज्ञान-गुणको नहीं जानता है। तथा जब ज्ञानगुणकी मति रूप पर्यायको जानता है, तब ज्ञानकी अन्य पर्यायोंको नहीं जानता है। जब स्ववस्तुको जानता है, तब पररूपको नहीं जानता है। तथा इसी प्रकार जब पुद्गल द्रव्यत्वको जानता है तब पुद्गलगुणको नहीं जानता है। जब वर्णगुणके रूपको जानता है, तब रसादि गुणोंके रूपोंको नहीं जानता है। जब रसगुणको जानता है, तब वर्णादि गुणको नहीं जानता है। तथा जब मिष्ट रसको जानता है, तब अन्य रसको नहीं जानता है। इस प्रकार सर्वका तात्पर्य यह है कि जघन्य ज्ञान जिधरको जिस ज्ञेय भाव प्रति प्रयुक्त होता है उस काल उसीको तावन्मात्र (उतना ही) एक ज्ञेयभावको जानता है। उसके दूसरे भाव प्रति जब प्रयुक्त होता है, तभी जानता है, उस ज्ञेय प्रति प्रयुक्त हुए बिना नहीं जानता।

परन्तु एक बात और है—मिथ्यात्वीके भी इसी प्रकार जघन्य ज्ञानहीका जानना है तथा इसी प्रकार जघन्य ज्ञानहीका जानना सम्यग्दृष्टिके होता है परन्तु भेद इतना है-मिथ्यात्वी जितना भी भाव जानता है, उतना ही अयथार्थरूप अजातिभेद साधता है, तथा उसी भावको सम्यग्दृष्टि जानता है, उतना ही यथार्थरूप जातिभेद साधता

[illegible]

[illegible]

[illegible] है, [illegible] होता है। [illegible] फिर [illegible] है, फिर [illegible] है, इस प्रकार [illegible] एक [illegible] संपूर्ण [illegible] लेता है। इस प्रकार [illegible] ज्ञान क्रमवर्ती है अथवा एक ज्ञेयको एक कालमें [illegible] है, फिर दूसरे कालमें दूसरे ज्ञेयको जानता है, इस प्रकार क्रमवर्ती जानना। और यह जघन्य ज्ञान कैसे है?

कतिपय (–कितने ही) है, सर्व ज्ञेयोंमेंसे कतिपय ज्ञेयोंको जान सकता है अथवा कुछ चेतन शक्तियों द्वारा जान सकता है तथा एक द्रव्यमें कुछ भावोंको जान सकता है, सर्वथा सर्व नहीं जान सकता, इससे कतिपय है। जघन्य ज्ञान भी कैसे है–जघन्य ज्ञान भी कैसे जघन्य ज्ञान है?

यह जघन्य ज्ञान साधनेको स्थूलकाल प्रवर्तता है। जब किसी एक ज्ञेयको जानने द्वारा साधन करता है, तब जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्तकाल पर्यंत साधन करता है; इस प्रकार ज्ञेय साधनेको स्थूलकालपर्याय है। तथा यह जघन्य ज्ञान लघुकाल स्थायी है। जो ज्ञेयभाव जानकर सिद्ध किया है, यदि फिर उस सिद्ध ज्ञेयको जानता रहे तो जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्तकाल तक जाना करता है। फिर वहांसे छूटकर अन्य ज्ञेयभाव प्रति

प्रवर्तता है, इसलिये जघन्य ज्ञान लघुकाल स्थायी है। और यह जघन्य ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान शक्ति है। इस प्रकार जघन्य ज्ञानमें तो जानना होता है।

किन्तु अप्रयुक्त, युगपत्, सर्वथा, सर्व, एक समय, अनंतकाल क्षायिकरूप केवलज्ञान है। अतः इस केवलज्ञान पर्यायमें परम सर्वथा सम्यक्ता होती है। हे भव्य! इस प्रकार मति-श्रुतादि ज्ञान पर्यायोंका स्वरूप कहा और उस ज्ञानमें सम्यक्ता भी प्रवर्तती हुई कही। वह सम्यक्ता दो प्रकार है, उसे दिखाते हैं—

सम्यग्दृष्टिके इन्द्रिय, मन नामक उपयोग परिणाम-भावकी सम्यक्ता तो सविकल्परूप है और उसको तू देख—वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, ज्ञेयों प्रति एक जानन देखन-रूप उपयोग परिणाम परिणमित होते हैं, उस जानने देखनेकी एकइन्द्रिय संज्ञा है। उसे अब भिन्न-भिन्न इन्द्रियके नामसे कहते हैं—

सम्यग्दृष्टि इन्द्रिय नाम उपयोग परिणामों द्वारा जब जब जिस-जिस ज्ञेयको देखता जानता है, तब-तब वे उपयोग परिणाम यथार्थ स्ववस्तुका लक्ष लिये हुए हैं। वे उपयोग परि-णाम तथा चिंता, विचार, स्मरणरूप विषयभोग, संयोग-वियोग, स्नेह, सुख-दुःख, कषायादि अशुद्ध परिणतिके द्रव्य, गुण, पर्याय; स्वके परके भेद-अभेद आदिरूप सर्व शास्त्र, सर्व विकथाशास्त्र सर्व स्वपरको अतीत, अनागत, वर्तमान अवस्थाओंको चिंता, विचार, स्मरण, विकल्प कल्लोलरूप

[illegible]
[illegible]
[illegible]
नामक उपयोग परिणाम हैं उन परिणामों [illegible]
जो-जो निद्रा, विचार, स्वप्नादि देखते हैं, जानते हैं, तब-तब
वे उपयोग परिणाम यथार्थ स्वरूप [illegible] लिये होते हैं।
देखो, ऐसे इन्द्रिय संज्ञा परिणामों और मन संज्ञा परिणामोंमें
उपयोगोंकी सम्यक्‌ता सविकल्पता है। इस सम्यक्‌तासे
भी आस्रव और बंध नहीं होते। अब निर्विकल्प दशा
कहता हूं, श्रवण कर—

देखो जो चारित्राचरण है उस चारित्रके जो परिणाम वर्णादिकको आचरते हैं—अवलंबन करते हैं, उन चारित्र परिणामोंको भी इन्द्रिय आचरण संज्ञासे कहा जाता है। तथा आचरणजन्य स्वाद उस स्वादको भी इन्द्रियस्वाद संज्ञासे कहा जाता है तथा स्वभाव वस्तुमात्रसे अन्य सर्व विकल्प उन विकल्पोंको जो चारित्र परिणाम आचरण करे, अवलंबन करे उन परिणामोंको मनाचरण संज्ञासे कहा जाता है। उस आचरणजन्य स्वादको भी मन संज्ञासे कहा जाता है। इस प्रकार मन इन्द्रिय संज्ञा धारक आचरण और स्वाद परिणाम उस सम्यग्दृष्टिके मन इन्द्रिय संज्ञक सम्यक् उपयोग परिणामोंके साथ है। परन्तु उस सम्यग्दृष्टिके उन मन इन्द्रिय संज्ञा धारी अशुद्ध चारित्र परिणामोंसे आस्रव-बन्ध नहीं होता। वह किसका गुण है? (किसकी विशेषता है?)

उस सम्यग्दृष्टिके उन मन इन्द्रिय संज्ञाधारी अशुद्ध

चारित्र परिणामोंके साधनेके लिये उपयोगोंके परिणाम सम्यक् सविकल्परूप ही हैं। अतः उन मन इन्द्रिय संज्ञाधारी चारित्रके अशुद्ध परिणामोंसे आस्रव बंध नहीं हो सकता। उन उपयोग सम्यक्परिणामोंने बंध-आस्रवरूप उन अशुद्ध चारित्रपरिणामोंकी वन्ध शक्ति कीलित कर दी है अर्थात् रोक दी है। अतः सम्यग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक (-स्वामित्वके) आचरण अपेक्षा निरास्रव निरबन्ध हुआ है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके मन इन्द्रिय संज्ञाधारी सम्यक् उपयोग परिणाम तथा मन इन्द्रिय संज्ञाधारी अशुद्ध चारित्र परिणाम, इन दोनों परिणामोंका प्रवाह चल रहा है। अब इनकी निर्विकल्प दशाका होना दिखलाता हूं—

जब उस सम्यग्दृष्टि जो मन इन्द्रिय संज्ञक उपयोग परिणाम हैं, उन परिणामोंको एक वाह्य-पर वर्णादि खंड खंड देखने जाननेसे इन्द्रिय संज्ञा धारण की हुई थी। अब वे उपयोग परिणाम उन वर्णादिकको जाननेसे रुक गये, तब उन परिणामोंको इन्द्रिय संज्ञा नहीं होती —इन्द्रिय संज्ञासे अतीत हो गये। तथा जिन उपयोग परिणामोंको विकल्प देखने जाननेसे मन संज्ञा प्राप्त हुई थी, वे उपयोग परिणाम भी तभी उन विकल्पोंके देखने जाननेसे रुक गये, तब उन उपयोग परिणामोंको मन संज्ञा नहीं होती वे परिणाम तब मन संज्ञासे अतीत होते हैं। इस प्रकार यह दोनों (उपयोग परिणाम) इन्द्रियातीत और मनातीत हुए। तथा सर्व एक स्वयंहीको स्वयं चित् वस्तुरूप व्याप्य-व्यापकरूपसे प्रत्यक्ष आप ही देखने लगे—

जो निजवस्तु जातिकी निजद्रव्य वस्तु गुण-पर्यायोंका प्रत्यक्ष सत्तारूप तथा परद्रव्य-गुण-पर्यायोंका भिन्न प्रत्यक्ष सत्तारूप यथार्थता ऐसा आस्तिक्यशक्तिका जातिभाव है वह नित्य ही है। ऐसी एक सम्यक्त्वगुणकी आस्तिक्य शक्ति निजरूप परिणमित हुई और उसी कालमें उस निकट भव्य जीवको एक ज्ञानगुण है, जिसका लक्षण 'जानना' है।

उस 'जानने' के भी दो भाव, एक तो वैभाविकरूप-विकाररूप-उपाधिरूप-परभाव, एक निज जातिरूप-अपने-रूप स्वभावभाव। जाननेका स्वभावभाव अनादिसे शक्तिरूप गुप्त हो रहा था तथा अन्य परभावरूप जानना व्यक्त-प्रगटरूप हो रहा था। सो परभाव धारण करते हुए कैसा जानना होता है ?

अवस्तुको वस्तु, अवगुणको गुण, अपर्यायको पर्याय, परको स्व, हेयको उपादेय इत्यादि जो कुछ वस्तुरूप नहीं है, मिथ्यामति (-मिथ्यादृष्टि) उसे ही जाननेको प्रवर्तता है।

'कर्मका विपाक रहे वहां तक परभावोंका रहना कहा है और यह कथन तो काल बतलाकर निज शुद्धात्माका आलम्बन करनेका समझानेके लिये कहा है। यदि एक द्रव्यकी पर्याय दूसरा द्रव्यकी पर्यायका सच्चा कारण हो तो द्रव्योंकी एकता हो जाय। कभी भी स्वतंत्र न हो किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अतः हरेक द्रव्यकी पर्यायें अपने अपने स्वतंत्र कारणसे होती है तब बहिरंग उचित संयोगको निमित्त व्यवहार-उपचार कारण कहे जाते हैं। अतः जहां कर्मके विपाकके रहने तक जीवमें परभावका कथन है वह तो काल सूचक है भाव सूचक नहीं है।

ऐसा जाननेका परभाव है, वह परभाव पुद्गल आवरणके विपाकके* रहनेसे रहता है इसी-इसीप्रकार अनादिसे प्रवर्तते हुए उस दुष्ट पुद्गल आवरणके कुछ विपाक उदयके नष्ट होनेका काल आया, उसके आनेसे (उस काललब्धिके समय) कुछ विपाक नष्ट हुआ, उससे वह जो दुष्ट—कुत्सित जाननेका परभाव था वह उसी कालमें नष्ट हुआ। तभी कुछ जाननेका निज जातिस्वभावभाव व्यक्त—प्रगटरूप परिणमित हुआ। (सम्यग्ज्ञान हुआ) वह कैसा प्रगट हुआ ?

जीवोंकी निज जाति वस्तु गुण—पर्यायोंकी सत्य प्रत्यक्ष स्वजाति जीव जानी (ज्ञात हुई), अथवा ज्ञायक जानी, अथवा दर्शन जानी, अथवा उपयोगमई जानी, चेतना जानी अथवा वेदक (अनुभवनरूप) जानी, अथवा बुद्ध जानी अथवा शांतमई जानी, ऐसी तो जीवकी निज-जाति नित्य जानी। तथा सर्व परभावोंकी—अन्य पांचद्रव्य—गुण—पर्यायोंकी सत्य प्रत्यक्ष अजीव जाति जानी, अथवा अज्ञायक जानी, अथवा अदर्शनमई जाति जानी, अथवा उपयोग रहित जाति जानी है, वा अचेतन जाति जानता है, ऐसी परभावोंकी नित्य जाति जानी (ज्ञात हुई है)।

तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल पांच वस्तुओंकी अजीव जाति ज्ञात हुई, तथा वस्तुभाव भिन्न ज्ञात हुआ, अवस्तुभाव भिन्न ज्ञात हुआ, यथार्थ भिन्न ज्ञात हुआ, आप जीव अपनी निज जाति सत्ता भिन्न जानता है, पर जीव—अजीव सत्ता भिन्न जानता है। मिथ्यात्व भिन्न जानता है, यथार्थ भिन्न जानता है, मिश्रार्थ भिन्न जानता

---

* देखो, फुटनोट पृष्ठ २४ तथा २६

कारण इसको वीतरागभाव कहते हैं। तथा वह परभाव पुद्गल विपाक रंगभावना पडत्थदा (प्रतिध्वनी) से व्याप्त है। वह पुद्गल रंग पड़त्थदा (प्रतिध्वनी) विनाश होनेसे कुछ भी नहीं है। अतः जैसे जैसे जब तक पुद्गल विपाक-भाव काल प्राप्त होने पर प्रगट होता है उसी उसीके अनुसार पुद्गल विपाककी जातिके अनुरूप इस चिद् पर-भावके रूपकी जाति होती है। तथा पुद्गल विपाककी भांति जिस जातिका नाश होता है, उस उस जातिका चिद् परभावका भी नाश होता ही है। तात्पर्य यह है उस पुद्गल विपाकके अस्तित्वसे इस परभावका अस्तित्व है और उस पुद्गल कर्म विपाककी जैसी जैसी कम अधिक अस्ति–नास्ति जाननी, वैसी वैसी परभावकी कम अधिक अस्ति–नास्ति जाननी, अतः परभावका अस्तित्व पुद्गलकर्म विपाकके आधीन है। तथा इस कारणसे केवल पुद्गलकर्म विपाक रंगकी जाति समान इस परभावकी जाति है इसलिये परभाव सरागमय हैं। तथा वह निज जाति जीव वस्तु स्वभावभाव निज वस्तु सत्ताके आधीन है। वह स्वयं ही वस्तुभाव है। वही पुद्गलकर्म विपाकके नाशसे स्वभाव-भावका प्रवर्त्तना–प्रगट होना है। अतः स्वभावभाव पुद्गल-कर्म विपाक रंगसे सहज ही रहित है जिस कारणसे स्वभावको एक वीतराग नाम भी प्राप्त हुआ, सो निकट भव्यको प्रगट परिणमित स्वभावभाव है।

भावार्थ—जिसप्रकार अनादिसे जीवकी परिणति अशुद्ध हो रही है उसीप्रकार कहते हैं अनादिसे पुद्गल तो

जीवकी चित् विकार परिणति होनेको निमित्त हुआ। फिर वही चित् विकार परिणति परिणमित होती हुई उस पुद्गलको कर्मत्व परिणाम होनेको निमित्त होती है। इस-प्रकार अनादिसे परस्पर निमित्त–नैमित्तिक हो रहे हैं। सो यहाँ जीवकी परिणतिका व्याख्यान करते हैं:–

जब यह पुद्गल सहज ही अपनी द्रव्यशक्तिसे कर्मत्व उदय परिणतिरूप परिणमित हुआ, तभी उस पुद्गल कर्मत्व उदय परिणतिरूप परिणमनका निमित्त पा करके यह जीव स्वयं चित् विकाररूप हो करके परिणमता है। जैसे प्रातःकाल सूर्यका उदय होनेपर लोक स्वयं ही स्नान वाणिज्य आदि कार्य करते हैं, वैसे ही पुद्गलकर्मकी उदय परिणति प्राप्त होनेपर जीव स्वयं ही विकाररूप परिणमित होता है। कोई जानेगा कि पुद्गल जीवको विकाररूप परिणमाता है, सो इस प्रकार तो कभी भी नहीं होता (नहीं बनता)। अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी परिणतिका कर्त्ता नहीं होता। तथा कोई इसप्रकार जानेगा कि चित् विकाररूप तो जीव परिणमता है परन्तु यह पुद्गल उसके परिणमनके लिये स्वयं निमित्तका कर्त्ता होता है।

परभावका कर्तृत्व माननेमें दोष

जब यह जीव विकाररूप परिणमित हो, उसके लिये यह पुद्गल स्वयं निमित्तका कर्त्ता होकर प्रवर्तन करे, सो इस प्रकार तो कभी भी नहीं होता। यदि यह पुद्गल उस चित् विकारके होनेके लिये जानजानकर स्वयं कर्म निमित्त-रूप होता है तो पुद्गल ज्ञानवंत हुआ तब अनर्थ उत्पन्न

हुआ। जो अचेतन था वह चेतन हुआ, यह तो एक दू
है। दूसरे पुद्गलकर्मकी कर्मत्व विभावता पुद्गलके आधी
होगी, पुद्गल स्वाधीन आपने आप कर्म विभावोंका कर
हो जायगा, निमित्त प्राप्त होनेपर कर्मका कर्ता नहीं होग
तब विभाव कर्मत्व पुद्गलका स्वभाव होगा, यह दूस
दूषण है।

तथा तीसरा दूषण यह होगा कि जो पुद्गल जीवक
विकाररूप होनेके लिये कर्मपने द्वारा निमित्तरूप हुआ क
तो यद्यपि कोई द्रव्य किसी द्रव्यका शत्रु नहीं है परन्तु यह
तो पुद्गल जीवका शत्रु हुआ। यह तीसरा दूषण है।

और जो कोई इस प्रकार कहे कि जीव तो विकार
रूप परिणमित नहीं होता, पुद्गल ही अनेक प्रकार स्व
ही कर्मत्वरूप हुआ परिणमता है, सो इस प्रकार तो कर्म
भी नहीं होगा, क्यों ?

यदि पुद्गल विकाररूप परिणमता है तो परिणम
परन्तु जीवको संसार मुक्ति होना तो न ठहरा। ज्ञान
अज्ञानी हुआ, वह कोई अन्य दशा हुई सो तो अनर्थदशा—
वह अन्य दशा तो नहीं दिखाई देती है तथा जीवके संसा
मुक्त परिणाम तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, अतः जीवको त
विकार होना ठहरा।

अब यदि कोई इसप्रकार कहता है कि जीव चि
विकाररूप स्वयं तो नहीं परिणमित होता परन्तु पुद्गल
व्याप्य-व्यापकरूप होकर परिणमित होता है तो इसप्रका

तो नहीं है क्योंकि कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे व्याप्य-व्यापक नहीं होता। जो होवे, तो चेतनद्रव्यका नाश हो जावे, यह कहनेका भाव है।

तथा, यदि कोई इस प्रकार कहता है कि पुद्गल सहकारी–निमित्त कुछ नहीं, जीव स्वयंको स्वयं ही निमित्त होकर स्वयं ही चित् विकाररूप परिणमित होता है, सो इस प्रकार तो नहीं है, क्यों?

यदि पुद्गल कर्मत्व सहकारी निमित्त विना ही जीव चित्विकाररूप परिणमता है तो यह चित्विकार जीवका निजस्वभावभाव हो जावे, स्वाधीन शक्ति हो जावे, निर्विकार निजस्वभाव चेतनाका नाश हो जावे, यह अनर्थ होता है।

तथा यदि कोई इस प्रकार कहे कि पुद्गलके कर्मत्व विकार होनेके लिये जीव चित्विकाररूप परिणमता है, सो इस प्रकार तो नहीं है, क्यों? कोई द्रव्य किसी द्रव्यका शत्रु नहीं है। इस प्रकार निषेध है।

तथा यदि कोई इसप्रकार कहे—जीव पुद्गल दोनों मिलकर एक अशुद्ध विकार परिणति उत्पन्न हुई है सो इसप्रकार भी नहीं है। क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक परिणतिरूप नहीं होते ऐसा माननेसे दो द्रव्योंमेंसे कोई द्रव्य नि:परिणामी (परिणाम रहितका) हो परन्तु यहां तो सर्व द्रव्य निज परिणामी हैं, चेतनके चेतन परिणाम, अचेतनके अचेतन परिणाम। इसप्रकार दोनों मिलकर एक अशुद्ध परिणति माननेका निषेध हुआ।

अब जिसप्रकार इन दोनों विकारकी उत्पत्तिका रूप है उसीप्रकार कहते हैं–पुद्गल कर्मत्व विकार होनेकी ऐसी कथा है:—

इस त्रिलोकमें कार्माण जातिकी वर्गणा (स्कंध) भरी हैं। जब जिस जीवके जैसी-जैसी जातिका मंद, तीव्र चित्‌विकार रागभाव होता है उसी कालमें उसी जीवका राग चिकनाईका निमित्त पाकर यथायोग्य कर्मवर्गणा उसी जीवके समीप आकाश प्रदेशोंमें पुद्गलवर्गणा उस जीवके प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाहरूप चिपकती हैं अथवा बँधती हैं, इसप्रकार बँधकर वही कर्मवर्गणा निजनिज कर्मत्व कार्यमें व्यक्त होकर परिणमित होती है, उदयरूप होती है, ऐसा चित्‌विकार राग कर्मवर्गणाको कर्मत्व व्यक्तरूप अनेक प्रकार परिणमनको निमित्तमात्र है जैसे दृष्टांत—

जैसे किसी पुरुषके शरीरमें तेल लगा है, उसी तेलका कारण पाकर अन्य धूलि मल उस तेलसे बंधकर धूलि व्यक्तपने मैलरूप परिणमती है तो भी वह पुरुष उस मैलसे मैला होता है यहाँ ऐसा इतना ही द्रव्यकर्मत्व होनेमें राग निमित्तका भाव जानना।

अब विकारकी उत्पत्ति कहते हैं—

उसी जीवसे एक क्षेत्रावगाह होकर जो कर्मवर्गणा चिपकी थी वे सहज आप ही काललब्धि प्राप्त होनेपर कर्मत्व व्यक्त परिणामरूप होकर परिणमती हैं। तभी उसी कालमें उन वर्गणाओंका व्यक्त कर्मत्व उदय निमित्तमात्र प्राप्त

होनेपर यह जीव चित्विकारभावरूप प्रगट हो परिणमता है। इति सामान्य निरूपण।

तथा यहाँ एक संक्षेपसा दृष्टांत जानना—जैसे एक बिल्ली और लोटन नाम जड़ी है। उस जड़ीकी जैसी वासना है वैसी वासनारूप जड़ी अकारण सहज ही अपने आप प्रगट है ऐसी जड़ीकी वासनाका निमित्तमात्र इतना ही प्राप्त होनेपर सयानी (चतुर) अपनी गतियोंमें प्रवीण बिल्ली उस जड़ीकी वासनामें अपनी सर्व सूरत रंजती धरी (रंजनारूप परिणामको धारण करती हुई) अपनी चेष्टाकी सूरत (रूप) विसरि गई (भूल गई)। तव उस बिल्लीके क्या विकार उत्पन्न होता है ? वह बिल्ली उसी जड़ीको तो जाना करती है और उसी जड़ीको देखा करती है, फिर भी उसी जड़ीसे मन विरक्त नहीं होता है, उसमें रंजायमान हुआ करती है; इस प्रकार होती हुई बिल्ली उस जड़ीके आगे लोट्या करती है। जिसप्रकार इस जड़ीकी वासनाका निमित्त-मात्र इतना ही प्राप्त होनेपर बिल्ली लोटनेकी क्रिया करती है उसीप्रकार कर्मवर्गणाका कर्मत्व व्यक्त परिणतिका निमित्त-मात्र इतना ही प्राप्त होनेपर यह जीव स्वयं ही चित्विकार-की क्रियाको करता है। इति सामान्य दृष्टांत दार्ष्टांत।

चित्विकार वर्णन

जो एक क्षेत्रावगाही वर्गणा है, वे ही वर्गणा जिस कालमें कर्मत्वरूप व्यक्त होकर आप ही आकाररूप होकर धारा प्रवाहरूप परिणतिसे परिणमित होती हैं तभी उसी कालमें उस पुद्गल कर्मत्व व्यक्त प्रवाह—परिणाम—परिणतिका

निमित्तमात्र हुआ [illegible] पर [illegible]
(वस्तु-अंतर) होता है, सो क्या ?

इन दोनोंमें स्वरूपानन्द[illegible] [illegible] विश्राम
लेनेके आवश्य निज परिणतिकी धारा उत्पन्न नहीं होती,
और कर्मजन्य [illegible] परिणाम [illegible] परिणतिमें, पर[illegible]-
रूप—परद्रव्यमें विश्राम लेनेके आवश्य पर परिणतिकी प्रवाह-
धारा उत्पन्न होती है। उसी परकर्म परकर्मोदय [illegible]में
रंजक—रागरूप—जीव पर विश्राम भाव प्रवाहसे प्रवृत्त हुआ,
स्वयंमें विश्राम लेना छूट गया, पुद्गलमें अनादि विश्राम
भाव किया, उसका नाम वस्त्वंतर है। ऐसा जब जीव
स्वयं ही वस्त्वंतर हुआ तब यह जीव ऐसे विकाररूप स्वयं
ही धारारूप परिणमता है। क्या विकार उत्पन्न हुआ ?

इस जीवका ज्ञानगुण तो अज्ञानरूप प्रवाहरूप
परिणमित हुआ। वह अज्ञान विकार कैसा है ? क्रोध, मान,
माया, लोभ, इंद्रिय, मन, वचन, देह, गति, कर्म, नोकर्म,
धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव इस-
प्रकार जितनी भी परवस्तु हैं, उतनेको आपरूप जानता
है, "ये हैं सो मैं ही हूं, मैं इनका कर्ता हूं, ये सर्व मेरे कार्य
हैं, मैं हूं सो ये हैं, ये हैं सो मैं ही हूं," इस प्रकार परवस्तुको
जो आप जाने, आपको पर जानता है। तब लोकालोक
जाननेकी सर्वशक्ति अज्ञानभावरूप परिणमित हुई है सो
जीवके ज्ञानगुणको अज्ञान विकार उत्पन्न हुआ।

तथा इसीप्रकार जीवका दर्शनगुण था वह भी जितने
परवस्तके भेद हैं उतने भेदोंको आपरूप ही देखता है। 'यह

है सो मैं ही हूं' इस प्रकार आपको पर देखता है। लोका-लोक देखनेकी जितनी शक्ति थी; उतनी सर्वशक्ति अदर्शन रूप हो गई, इसप्रकार जीवका दर्शनगुण विकाररूप परिणमित हुआ।

तथा जीवका सम्यक्त्वगुण था वह जीवोंके भेदोंको अजीवरूप श्रद्धा करता है, अजीवके भेदोंको जीवरूप श्रद्धा करता है। चेतनको अचेतन, विभावको स्वभाव, द्रव्यको अद्रव्य, गुणको अवगुण, ज्ञानको ज्ञेय, ज्ञेयको ज्ञान, स्वको पर, परको स्व, इसीप्रकार अन्य सर्व विपरीत ही आस्तिक्य-श्रद्धा करता है। इसप्रकार जीवका सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्व-रूप-विकाररूप परिणमित हुआ।

तथा जीवका स्वआचरण गुण था वह जितनी भी परवस्तु हैं उन परको स्वआचरण किया करता है, परमें ही तिष्ठा करता है, परहीको ग्रहण करता है। अपनी चारित्रगुणकी सर्वशक्ति परमें ही लग रही है। इस प्रकार जीवका स्वचारित्रगुण विकाररूप हो परिणमता है।

तथा इस जीवका सर्वस्वरूप परिणमित होनेका बलरूप सर्व वीर्य गुण था, वह भी सर्व वीर्यशक्ति अत्यन्त निर्बलरूप हो परिणमित हुआ। स्वरूप परिणमनका बल प्रगट नहीं हुआ, पररूप निर्बल हो परिणमित हुआ। इस-प्रकार जीवका वीर्यगुण विकाररूप हुआ।

तथा इस जीवका आत्मस्वरूपरूप रस जो परमानन्द भोगगुण था, वह पर पुद्गलका कर्मत्व व्यक्त साता-असाता,

पुण्य-पापरूप—उदय परपरिणामोंके निमित्त चित्विकार परिणामोंका रस भोगता रहता है रस लिया करता है। उस परमानन्दगुणकी सर्वशक्ति परपरिणामोंका स्वाद सो परस्वाद परम दुःखरूप है। इसप्रकार जीवका परमानन्दगुण दुःख विकाररूप परिणमित हुआ। इसीप्रकार इस जीवके अन्य गुण जैसे-जैसे विपरीत विकाररूप हुए हैं सो अन्य ग्रंथोंसे जान लेना।

इस जीवके सर्वगुणोंमें विकारको चित्विकार नाम संक्षेपसे कहते हैं। इसप्रकार यह जीव एक क्षेत्रावगाही कर्मवर्गणाओंसे व्यक्त जो कर्म उदय परिणतिका निमित्तमात्र प्राप्त होनेपर आप ही वस्त्वंतर हुआ। वस्त्वंतर होनेसे आप ही चित्विकाररूप, धाराप्रवाहरूप होकर उस बिल्लीकी भाँति इस त्रिलोकमें यह जीव नाचता फिरता है।

प्रश्नः—ऐसे चित्विकाररूप तो जीव आप ही परिणमित होता है, परन्तु इस एक क्षेत्रावगाही कर्मत्व उदयका निमित्तमात्र प्राप्त होनेपर विकाररूप हो, सो इतने निमित्तमात्रसे क्या है?

उत्तर—इतने निमित्तसे यह है कि जीवका इतना विकारभाव अनित्य स्थापित किया, विकारकी अनित्यता जड़ (निश्चत) हुई, विकार अवस्तु भाव ठहरा; विकार विकार ही ठहरा, स्वभाव न ठहरा। क्योंकि जिस काल उस कर्मत्व[1] व्यक्त उदय परिणतिकी स्थिरता है—जैसा उसका

१. कर्मत्व व्यक्त उदयका अभिप्राय पुद्गलकधंके उदयके साथ जीवकी परिणतिका जुडान अर्थात् सम्बन्ध है।

अस्तित्व है—तब यह जीव भी चित्‌विकारका कर्त्ता होता है। तथा जिस काल वही एक क्षेत्रावगाही कर्मवर्गणा कर्मत्वरूप नहीं हुई, सहज ही उसीकाल इस जीवने भी चित्‌विकाररूप भाव नहीं किया। इस चित्‌विकारको उस कर्मत्वका निमित्त इतना कारण है। इस चित्‌विकारका अस्तित्व केवल उस कर्मत्व व्यक्त उदयके अस्तित्वसे है। वह जाता है तो यह चित्‌विकार भी जाता है इसलिये इस विकारको अनित्यपना ठहरा। तथा यह स्वाधीन वस्तु स्वभाव न ठहरा तथा प्रत्यक्ष विकार, विकार ही ठहरा। क्योंकि स्वभावकी नास्ति तो तब हो, जब इस जीववस्तुका नाश हो जाय, परन्तु वस्तुका कभी भी नाश नहीं है, अतः वस्तुत्वस्वभावभाव आप ही नित्य ठहरा। इस स्वभाव-भावका अस्तित्व निज वस्तुत्वके अस्तित्वसे है इस कारण यह स्वभावभाव निजजाति स्वभाव ही ठहरा, सो केवल स्वयं वस्तु ही ठहरी।

तथा इस विकारका अस्तित्व परके अस्तित्वसे है, (परके अवलम्बनसे है।) इस कारण यह अनित्य है इसका अस्तित्व पराधीन ठहरा। तथा जब यह विकारभाव मिट जाता है, तब वह वस्तु तो जैसीकी तैसी ही रह जाती है, इस कारणसे प्रत्यक्ष जाना जाता है कि यह वस्तुका वस्तु-स्वभाव नहीं है। यह भाव इस वस्तुमें ऊपरी हैं, अन्य ही जैसा है। अतः जो अन्य जैसा ही भाव आता है, वह विकारभाव स्वयंको प्रत्यक्ष विकाररूप ही दिखलाता है, "मैं इस वस्तुका वस्तुस्वभाव नहीं, कि मैं इस वस्तुमें

उपाधि हूं," इस प्रकार आता हुआ वह विकारभाव प्रत्यक्ष दिखलाता है।

तथा जो कोई इस प्रकार प्रश्न करे, जब वस्तु विकार-रूप प्रगट होती है, उस कालमें स्वभावभावका क्या होता है? नाश हो जाता है कि रहता है? उसका उत्तर-स्वभावभाव गुप्तरूप रहता है।

भावार्थ—यह स्वभावभाव तो प्रगट परिणमनरूप हो, तो यह नष्ट नहीं हुआ है, परन्तु जो वस्तु है वह वस्तुस्वभावभाव तो आप स्वयं ही है। उस विकारके जाते ही व्यक्त परिणाम भावरूप होना सरल है। जैसे वह बिल्ली है तो उसका स्वभावभाव भी नहीं गया है (नष्ट नहीं हुआ है।) क्योंकि जिसकाल जड़ीका निमित्त जाता है, निमित्तके जाते ही उस बिल्लीका लोटनेरूप विकार जाता है, तभी उस बिल्लीके निज जातिस्वभाव प्रगट होता है। तथा जो लोटते हुए बिल्लीपना मिट गया होता तो वह बिल्लीका स्वभाव कहांसे प्रगट होता? न होता। इस कारण लोटते हुए बिल्लीपना नहीं जाता है, बिल्लीपना तो रहता है। जैसे बिल्लीपना रहता है, वैसे स्वभावभाव स्वयं ही रहता है। तथा जो रहता है तो व्यक्तरूप होना सरल है। इति तात्पर्य।

इसप्रकार अनादिसे इस जीवने चित्‌विकाररूप होकर भ्रमण किया, अनेक-अनेक विकारभावरूप नृत्य किया। नृत्य करते करते जब अनन्तकाल व्यतीत हुआ, तब किसी भव्य जीवको वस्तुस्वभावभाव प्रगट परिणामभाव होनेकी काल-

लब्धि प्राप्त हुई। वह संसारी जीव कैसा है? संज्ञी पंचेन्द्रिय है। ऐसे जीवके काललब्धि आने पर स्वभाव परिणाम जैसे प्रगट होता है, वह रीति कहते हैं—

पौद्गलिक दर्शनमोहकी तीन प्रकृति मिथ्यात्व, मिश्र-मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व इन तीन प्रकृतियोंका मूलसे ही विनाश (क्षय) हुआ, अथवा उपशम हुआ, अथवा क्षयोपशम हुआ, अथवा दो प्रकृतियोंका तो क्षयोपशम हुआ और एक सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वका उदय है, इस प्रकार तो पौद्गलिक दर्शनमोहकी अवस्था हो गई। तथा उसीकालमें पौद्गलिक चारित्रमोहकी अनंतानुबंधी चौकड़ीका मूलसे नाश हुआ अथवा उपशम अथवा क्षयोपशम हुआ, इस प्रकार अनंतानुबंधीकी अवस्था हो गई तथा ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय, वेदनीय—इन चारों पौद्गलिक कर्मोंके संक्षेपसे कितने ही कर्मअंश क्षयोपशम हुए, सो वह क्षयोपशम कैसा जानना ?

कर्मअंशोंके उदयरूप होनेका अभाव (-नाश) होना क्षय है। तथा उन कर्मअंशोंके सत्ताभावका सत्ता उपशम है। इन अंशोंकी दशा ऐसे क्षयोपशमरूप हुई, इस प्रकार इन पुद्गलकर्मोंके नष्ट होते ही उसीकालमें चित्विकार भी सहज ही नष्ट हो जाता है।

कोई यहाँ प्रश्न पूछता है कि चित्विकारके मिटते ही पुद्गलकर्मका नाश क्यों नहीं कहते हैं? इसका उत्तर—इस चित्विकारकी स्थिति पुद्गल कर्मकी स्थितिके आधीन

है, पुद्गलकर्मकी स्थिति चित्विकारको स्थितिके आधीन नहीं। इस पुद्गल कर्मकी स्थिति कालद्रव्यके आधीन है, जितने काल तक जिन जिन पुद्गलकर्मोंको जिस जीवके संग कर्मत्वरूप परिणमना है, उतने ही काल तक कर्मत्व स्थिति रहती है। उस कर्मत्व परिणमनके कालकी जब मर्यादा पूर्ण होती है, तभी पुद्गलकर्मत्व परिणमनकी स्थिति समाप्त हो जाती है अत: कालकी मर्यादा पूर्ण होनेपर पुद्गल कर्मत्व स्थिति समाप्त होती है। उस पुद्गल कर्मत्व स्थितिके समाप्त होते ही चित्विकारकी स्थिति समाप्त हो जाती है। अत: पुद्गल कर्मत्व परिणमनेकी स्थिति समाप्त हुई, इस प्रकार चित्विकार नष्ट हो गया। जीवके जब वह चित्विकार नष्ट हो जाता है, तब जीवका निज-जाति वस्तुस्वभाव जैसा था, वैसा ही परिणामरूप व्यक्त हो प्रवाहको प्राप्त होता है। उसे कहते हैं—

अनादिसे जीवका जो स्वभाव आचरणभाव राग, मोह रूप होकर सर्व पर पुद्गलोंमें आत्मा मानकर तिष्ठा था, वही स्वरूपाचरणरूप हुआ। कितना ही (भाव) निज वस्तुमें ही मग्न हुआ, स्थिरीभूत उत्पन्न हुआ। इति सामान्य कथन।

विशेष रूपसे दर्शनमोह पुद्गलकी स्थिति जब ही नष्ट हुई, तभी इस जीवका जो स्वसम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ था, वही सम्यक्त्वगुण सम्पूर्ण स्वभावरूप हो परिणमित हुआ, प्रगट हुआ। चेतनवस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय जीव वस्तु जातिकी भिन्न आस्तिक्यता—टंकोत्कीर्ण प्रतीति;

और अचेतन वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय, अजीव वस्तु जातिकी आस्तिक्य टंकोत्कीर्ण भिन्न प्रतीति, सो ऐसा सर्वांग सम्यक्त्व-गुण निजजाति स्वरूप हो परिणमित हुआ–प्रगट हुआ।

उसी कालमें वह ज्ञानगुण अनंत शक्तियोंसे विकाररूप अनादिसे हो रहा था, उस ज्ञानगुणकी उन अनंतशक्तियोंमेंसे कितनी ही शक्तियाँ चेतन निजजाति वस्तुस्वरूप स्वज्ञेय जाननेको प्रत्यक्ष निजरूप होकर सर्व असंख्यात जीव प्रदेशोंमें प्रगट हुई। उसका सामान्यसे नाम 'भावमति श्रुत' नाम कहते हैं, अथवा निश्चय श्रुतज्ञानपर्याय कहते हैं, अथवा ज्ञानी कहते हैं, श्रुतकेवली कहते हैं, या एकदेश प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, या स्वसंवेदनज्ञान कहते हैं अथवा जघन्यज्ञान कहते हैं। इनके अतिरिक्त सर्व ज्ञान शक्तियाँ अज्ञान विकार-रूप प्राप्त होती हैं। इन सर्व विकारशक्तियोंका सामान्य नाम कर्मधारा कहते हैं। इस प्रकार उस सम्यक्त्वगुण स्वरूप परिणमनके कालमें ज्ञानगुणकी अनंत शक्तियोंमेंसे कितनी ही स्वरूप रूपको प्राप्त हुई।

तथा उसीकालमें जीवके दर्शनगुणकी अनादिसे अदर्शन विकाररूप अनंतशक्तियाँ हो रही थीं वे भी कितनी ही शक्तियाँ दर्शन निज जाति स्वस्वरूप होकर असंख्यात जीव प्रदेशोंमें प्रत्यक्ष प्रगट हुई। और जिस प्रकार ज्ञानकी शक्ति प्रत्यक्ष होनेकी रचना कही थी उसीप्रकार दर्शन-गुणकी कितनी ही (शक्तियाँ) प्रत्यक्ष होनेकी रचना हुई। तथा जिस प्रकार ज्ञानकी शक्ति कर्मधारारूप कही उसीप्रकार दर्शनगुणकी कितनी ही शक्तियाँ प्रत्यक्ष होनेकी रचना

होकर अन्य शक्तियाँ कर्मधारारूप प्रवाहित होती हैं।

उसीकालमें जीवके स्वचारित्रगुणकी अनंत शक्तियाँ अनादिसे पराचरणरूप द्वारा रागरूप हो रही थी, उन अनंत आचरण शक्तियोंमेंसे कितनी ही आचरण शक्तियाँ वीतराग निजजाति होकर निज वस्तुस्वस्वरूपमें, स्थिररूप–विश्रामरूप–प्रगट हुई। निज वस्तुस्वरूप आचरण क्रिया, स्थिरता प्राप्त की तथा श्रुतकेवली जीवके अबुद्धिरूप जो चारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियाँ हो रही हैं, वे चारित्रकी शक्तियाँ रागरूप हैं। जहाँ राग वहाँ बंधन है। अतः श्रुतकेवलीके बुद्धिरूप–चारित्रगुण शक्तियाँसे आस्रव बंध नहीं है। अबुद्धिरूप चारित्र राग शक्तियोंसे सूक्ष्म आस्रव बंध होता है। इस प्रकार जघन्य ज्ञानीको स्वचारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सर्व जीव प्रदेश निजवस्तुमें वीतराग होकर स्थिरीभूत विश्रामको प्राप्त हुईं तथा चारित्रकी रागरूप (शक्तियाँ) अबुद्धि विकाररूप प्रवर्तती हैं।

तथा उसीकालमें इस जीवके एक स्वपरमानन्दभोग गुणकी अनंतशक्ति चितविकाररूप, पुण्य, पाप, दुःख भोगरूप अनादिसे प्रवर्तती थीं, उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ स्वपरमानन्दरूप हो सुख भोगरूप प्रवृत्त हुई हैं। जितनी चारित्रगुणकी शक्तियाँ स्वआचरण स्थिररूप प्रवृत्त हुईं, उतनी शक्तियाँ परमानन्द भोगगुणके स्वसुखभोगरूप प्रगट हुई और शक्तिरूप प्रत्यगात्माका भोगरूप प्रवर्तती हैं। अन्य शक्तियां पुण्य-पाप भोगरूप प्रवर्तती हैं।

तथा उसीकालमें इस जीवके वीर्य (बल) गुणकी

सर्व शक्ति अनादिसे स्वरूप परिणमनके लिये निर्बल हो रही थीं। उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ निजस्वरूप प्रगट होनेको बलवान होकर प्रवृत्त हुई। सम्यक्त्वगुण और ज्ञानगुणकी जितनी शक्ति, दर्शनगुणकी जितनी शक्ति, चारित्रगुणकी जितनी शक्ति, परमानन्दगुणकी जितनी शक्ति, जितनी परमार्थस्वरूप होकर प्रवृत्त हुई, उतनी ही वीर्यगुणकी शक्ति सर्व जीव प्रदेशोंमें वीर्यबलरूपधारी प्रवृत्त हुई। इस प्रकार किसी भव्य जीवको काललब्धि प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वगुण ज्ञान दर्शन स्वचारित्र परमानन्दभोग स्वभाव वीर्यगुणोंकी कितनी ही शक्तियाँ स्वस्वभावरूप प्रगट होकर प्रवृत्त हुई। उसी जीवके असंख्यात प्रदेशोंमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परमानन्द आदि गुणोंकी शक्ति बुद्धिरूप शुद्ध, अबुद्धिरूप चित्‌विकार होकर अशुद्ध प्रवर्तती हैं। इस प्रकार स्वरूप (ज्ञानधारा) विकार-रूप (कर्मधारा) दो धाराएँ बारहवें गुणस्थान तक रहती हैं। इस कारणसे इस जीवको इतने काल तक मिश्रधर्म परिणति कहते हैं। क्यों?

स्वभाव तो प्रगट हुआ है परन्तु गुण विकारी भी प्रवर्तता है, जिससे वह जीव द्रव्य उतने काल तक मिश्रधर्मी कहलाता है। तथा जिस कालमें मन इन्द्रिय बुद्धि (ज्ञान) शक्ति सर्वथा स्वभावरूप होगी तब ही जानों की गुणोंकी अनंत शक्ति स्वभावरूप होगी। वहाँ सर्वथा स्वभावरूप गुण कहेंगे। इति मिश्रधर्म अंतरात्मा परिणति कथन समाप्तं ॥ इति मिश्रधर्मवाद ॥ इति एकादशवाद ॥

(१५) जीवाधिकार वर्णन

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, पर परिणति फल भोगादि चित्‌विकारभाव तथा इस चित्‌विकार होनेसे जीवके संसार-मुक्त भाव उत्पन्न होते हैं। वे कौन?

जीवके पुण्य-पाप, शुभ अशुभभाव, राग-चिक्कने परिणामरूप जीवका बंधभाव, राग-द्वेष-मोह जीवके आस्रव-भाव, परभावका आचरण नहीं करनेरूप जीवका संवरभाव, चित्‌विकारकेअंश नष्ट होनेरूप जीवका निर्जराभाव, सर्व चित्‌विकारका नष्ट होना जीवका मोक्षभाव, इतने चित्‌-विकार संसार मुक्तिभाव भेषोंमें एक व्याप्य-व्यापक तो जीव हुआ है; अन्य कोई द्रव्य नहीं हुआ है। इनरूप जीव एक अपने आप है। परन्तु यह भाव कोई जीवका निज जाति-स्वभाव नहीं है। इतने भावोंमें जो चेतना व्याप्त हो रही है, उसी एक चेतनाको तू जीवका निजजातिस्वभाव जानना। यह चेतना ही केवल जीव है। वह अनादि अनंत एकरस है। इस कारण यह चेतना स्वयं साक्षात् जीव जानना। तथा इन रागादि विकारभावोको इस जीवके स्वांगभेष निःसंदेह जानने, अतः जीव शुद्ध चेतनारूप स्वयं हैं।

इन रागादिभावोंमें अपने आप जीव चेतनरूप प्रवर्तता है। चेतना है वह जीव है जो जीव है वह चेतना है। इन चेतनरूप जीव अपने आप होकर तिष्ठा है। जीवका निजरूपमें चेतना इतना भाव है। अन्य सर्वभाव जीवपदका कोई नहीं है ॥ इति जीवाधिकार ॥

(१६) अजीवाधिकार वर्णन

पांच वर्ण, दो गंध, पंच रस, आठ स्पर्श, पांच शरीर, छह संहनन, छह संस्थान, पांच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय, पंद्रह योग, मोह, राग, द्वेष, वर्गणा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक इत्यादि सर्व भेद पुद्गल परिणाममय प्रगट जानने। तथा यह पुद्गल जीवके रागादिकका निमित्त प्राप्त होने पर जीवके साथ एकक्षेत्रवगाही होता है—एकीभूत होता है इस प्रकार जीवसे पुद्गल एकीभूत हुए हैं। उस जीवके समीप तिष्ठे हुए पुद्गल जिस-जिस लक्षण-रूप जो परिणमते हैं, वे सर्व लक्षण पुद्गलपरिणाममय जानने। उन लक्षणोंको कहते हैं—

तीव्र, मंद, मध्यम कर्मप्रकृतियोंके सुख दुःख रसरूप लक्षण होते हैं. मन, वचन, कायके हलन-चलनरूप लक्षण होते हैं, कर्मोंकी प्रकृति परिणामरूप लक्षण होते हैं, कर्मत्वके निज फल होनेको समर्थ उदयरूप लक्षण होते हैं, चारों गतिरूप लक्षण होते हैं, पांच इंद्रियरूप लक्षण होते हैं, छह कायरूप लक्षण होते हैं, पंद्रह योगरूप लक्षण होवे है, कषाय परिणामरूप लक्षण होते हैं जीवके ज्ञानगुणकी पर्यायमें (सुमति-कुमति आदि) आठ नाम संज्ञामात्र वचन-वर्गणा उत्पन्न करनेके नाम रचनारूप आठ अवस्था लक्षण होते हैं, जीवके चारित्रगुणकी पर्यायमें सात नाम संज्ञा मात्र वचनवर्गणारूप रचना कार्य उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं; जीवके सम्यक्त्वगुणकी पर्यायमें छह नाम संज्ञा वचन वर्गणा-

रूप रचनामात्र कार्य उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं; जीव-के छह कर्मरूप रंग नाम भेदकर लेश्यारूप लक्षण होते हैं, जीव संज्ञोभावके दो नाम मात्र भेद रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं. जीवके भव्य अभव्य नाम मात्र रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं. आहारक, अनाहारकरूप नाम मात्र रचना उत्पन्न करनेरूप लक्षण होते हैं प्रकृतियोंका निजकाल मर्यादा तक रसरूप रहता है सो स्थितिबंध लक्षण होता है, कपायोंका उत्कृष्ट विपाकरूप लक्षण होता है, कपायोंका मंद विपाकरूप लक्षण होता है; चारित्रमोह विपाकका यथाक्रमसे नष्ट होना वह संयमरूप लक्षण होता है, पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, चौरासीलाख [illegible] लक्षण होते हैं। प्रकृतियोंके उदय और उदय [illegible] अवस्थासे भिन्नभिन्न गुणस्थान होते हैं, वह मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय, उपशांत-मोह, क्षीणकषाय, सयोग, अयोग इतने लक्षण होते हैं। ये [illegible] लक्षण कहे, वे सर्व पुद्गल परिणाममय जानने।

[illegible] पुद्गल जब जीव प्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही [illegible] है, तब जीवके समीप तिष्ठे पुद्गल उपर्युक्त [illegible] है, इस कारणसे इन लक्षणरूप पुद्गल [illegible] जीव सहीनी (निकटवर्ती) कहते हैं। अतः [illegible] पुद्गलमय जानने। इनमें [illegible] अन्य द्रव्य ही जानना।

इनको जीवरूप प्रतीति करना ही मिथ्यात्व है। सम्यक् ज्ञाता इनको अचेतन परद्रव्य और भिन्न ही जानता है, स्वयंको चेतनारूप चेतनद्रव्य जानता है भिन्न आचरण करता है (अनुभव करता है)।

तथा जब जीवसे एकक्षेत्रावगाही पुद्गल है वह उदयरूप परिणमित होते हैं, उसीकालमें सहज ही जीवका चित्विकार भी उस उदयका निमित्तमात्र प्राप्त होनेपर उसी भांति उसीप्रकारके भावसे, उसीप्रकार बनकर, उसीप्रकार स्वांगकर, उसीप्रकार अनुसरण करके चित्विकारभाव होते हैं।

जो क्रोधरूप पुद्गल उदयरूप परिणमित हो, तो उसीकालमें चित्विकार भी उसीप्रकारका भाव होता है, इस प्रकार सर्व जानना। जीवके इस प्रकारके चित्विकार भावोंको औदयिकभाव कहते हैं। अथवा जब इन एक क्षेत्रावगाही पुद्गल प्रकृतियोंके उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय इन तीन प्रकारसे नष्ट होनेके उपाय द्वारा पुद्गल प्रकृति नष्ट होती है। तब उसीकालमें इस जीवका उस प्रकारका चित्विकार भी निःसंदेह नष्ट हो जाता है। जब चित्विकार नष्ट हुआ, तब केवल एक चित् स्वयं ही प्रगट हो जाता है। परन्तु एक विशेष बात है—

जिसप्रकारकी प्रकृतियोंके नष्ट होनेका भाव हो, चित् शुद्धताको उसीप्रकारका नाम प्राप्त होता है। प्रकृतियों-का उपशम हो तो चित्को उपशम शुद्धता नाम प्राप्त होता है। प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे चित्को क्षयोपशम शुद्धता नाम

कर्म, क्रिया तीनों व्याप्यव्यापक जानने। अचेतन एक सत्ताके एक अचेतन जातिके कर्त्ता-कर्म-क्रिया व्याप्यव्यापक जानने। अन्य द्रव्यका कर्त्ता अन्य द्रव्य किसी प्रकार भी नहीं होता है, अन्य द्रव्यका कर्म अन्य द्रव्यरूप नहीं होता है। अन्य द्रव्यकी क्रिया अन्य द्रव्यकी नहीं होती है। निःसंदेह किसी प्रकार भी नहीं होती है। ज्ञाता जानता है, मिथ्यात्वीको कुछ सुध (-बोध) नहीं है।

पुनः अन्यत्—परद्रव्य परिणमन करानेके लिये स्व: निमित्तका कर्त्ता नहीं है तथा कोई द्रव्य किसी द्रव्यको परिणमन नहीं कराता है, क्योंकि कोई द्रव्य निःपरिणामी (-अपरिणामी) नहीं, सर्वद्रव्य परिणामी हैं अन्य कोई जानेगा–जीव पुद्गल मिलकर एक संसारपरिणति उत्पन्न हुई है वही अनर्थ है क्योंकि दो द्रव्य मिलकर कभी भी एक परिणति नहीं होती है। यदि एक परिणतिरूप हों, तो दोनों द्रव्यका नाश हो जाय। यह दूषण है। अतः चित्-विकार संसार-मुक्तिरूप स्वयं ही व्याप्यव्यापक होता है तथा भिन्न प्रवर्तता है। तथा वहाँ ही पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मत्वरूपसे व्याप्यव्यापक होकर अनादिसे भिन्न ही सदा परिणमता है, इतना ही जानना।

जीव पुद्गलको परस्पर संसारदशामें निमित्तनैमित्तिक-भाव जानना, सहज ही आप-आपरूप भिन्न-भिन्न परिणमन करते हैं। किसी भी जीवका पुद्गलसे परस्पर संबंध कुछ नहीं है। जिन्होंने यह कर्त्ता-कर्म-क्रियाका भेद भले प्रकार जाना, उन्होंने अपनी चेतना भिन्न जानी, अपनी परिणतिकी

शुद्धता हुई, तथा वे ही संसारसे भले प्रकार विरक्त होते हैं, परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति उन्हींको होती है। इति कर्त्ता-कर्म-क्रिया अधिकार।

(१८) पुण्य-पाप अधिकार

पौद्गलिक पुण्य-पाप एक कर्मके दो भेद हैं। इन दोनोंकी एक कर्म जाति है, दोनों कर्मसे अभेद हैं, दोनों परस्पर अविरोधी हैं, अचेतन हैं, जीवके चित्‌विकारमें भी पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं, वे दोनों एक विकारभावके भेद हैं, विकार जाति एक ही है, दोनों विकारसे अभेद हैं; दोनों आकुलतारूप हैं, संसाररूप हैं, खेदरूप हैं, औपाधिक हैं, तथा दोनों कर्मबंधके निमित्त हैं, दोनों स्वयं एक बंधरूप हैं उनसे मोक्ष कैसे हो? इनसे मोक्ष कभी भी नहीं होता जो इन दोनोंसे मोक्ष होनेकी प्रतीति करता है; वह अज्ञानी है क्योंकि जो स्वयं बंधरूप है, उससे मोक्ष कैसे हो?

एक जीवका निजजातिरूप चेतनास्वभाव प्रगट होनेपर मोक्ष है। उस चेतनाका स्वभाव मोक्षरूप है। निःसंदेह उसकी प्रगटतासे केवल मोक्ष ही है। इसलिये ज्ञाताके ऐसी चेतनाका आचरण है, अतः उसे सहज ही मोक्ष होता है। जीवका विकार पुण्य-पाप केवल बंधरूप है, त्याज्य है। एक जीवका चेतनास्वभाव ही मोक्ष है।। इति पुण्यपापाधिकारः।।

(१९) आस्रवाधिकार

आस्रव अर्थात् आना। चित्‌विकाररूप राग, द्वेष, मोह

ये जीवके आस्रव हैं, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये अचेतन पुद्गलके आस्रव हैं। अतः चित्‌विकाररूप राग-द्वेप-मोह तो पौद्‌गलिक आस्रवमें निमित्तमात्र हैं। तथा पौद्‌गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आठ प्रकार आदिरूप कर्मवर्गणा आनेमें निमित्त हैं। इस कारणसे जब जीव ज्ञानरूप परिणमित हुआ, तब ही राग, द्वेप, मोहरूप चित्‌विकाररूप आस्रवसे रहित हुआ तब सामान्यसे ज्ञानीको निरास्रव करते हैं। ज्ञानी निरास्रव मुख्य नाम पाता है। तथा यदि ज्ञानीको भेदसे देखते हैं तो जब तक ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणोंका जघन्य प्रकाश है, तबतक आत्माका स्वभाव जघन्य कहलाता है, तबतक ऐसा जघन्य ज्ञानी बुद्धिपूर्वक तो निरास्रव है तथा जघन्य ज्ञानीके अबुद्धिपूर्वक रागभावरूप परिणाम कलंकसे आस्रव बंध होता है। अतः जघन्य ज्ञानी बुद्धिपूर्वक परिणामोंसे निरास्रव और निर्बन्ध प्रवर्तता है।

जब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, चारित्रादि उत्कृष्ट प्रकाशरूप प्रगट हुए तब आत्मस्वभाव उत्कृष्ट कहलाता है। ऐसे उत्कृष्ट ज्ञानीके बुद्धि—अबुद्धिभावका नाश हो गया जिससे उसे सर्वथा साक्षात् निरास्रव और निर्बंध कहते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानीके निरास्रव और साक्षात् निरास्रव ये दो विशेष भेद जानने। ऐसा चेतन आस्रव विकार है। अतः हे संत। तू एक निजजाति चेतना ही जीवका निज-स्वभाव जान। इति आस्रव अधिकारः।

(२०) वंधाधिकार

वन्ध अर्थात् सम्वन्ध। जीवका चारित्र विकार राग वन्ध है। चिकना रूखा पुद्गलोंहीका वन्ध है।

भावार्थ—पौद्गलिक कर्मवर्गणाओंमें तो परस्पर चिकने रूखे भावसे संवंध करता है। ऐसा पुद्गल कर्म-स्कन्ध रागी जीवके राग परिणामोंसे जीव प्रदेशोंसे चिपकता है। इसप्रकार चेतन विकार वन्ध और अचेतन वन्ध जानना। राग जीवका विकारभाव है, एक चेतना ही जीवका स्वभाव जानना वह चेतना ही जीव है। वन्धभाव विकार ही है, जीवत्व नहीं है। इति वन्धाधिकारः।

(२१) संवराधिकार

हे संत! काललब्धि प्राप्त होने पर जितने कर्म नष्ट हुए, उतना जीवका विकार भी नष्ट हुआ है। विकारके नाश होने पर जितने सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि वह स्वरूपरूप होकर प्रगट हुए, वे विकाररूप नहीं प्रवृत्त हुए, उसे संवरभाव कहते हैं।

भावार्थ—जो शक्ति विकाररूप नहीं होती है वह संवरभाव है। जीवके ऐसा संवरभाव होनेपर उस जीवके कर्मवर्गणाओंका आना भी सहज ही रुकता है। इसीप्रकार जीव संवर, पुद्गल कर्म संवर दोनों होते-होते जीव अपने आप सर्व संपूर्ण स्वभावरूप प्रगट होता जाता है। तथा सर्व कर्मवर्गणाओंका उस जीवकी ओर आना रुक जाता

है। इस प्रकार जो [illegible] प्रगट हुआ, [illegible] जीवका स्वभाव जानना। [illegible] कोई भाव है। इति [illegible]धिकार ।

(२२) संवर पूर्वक निर्जराधिकार

जैसे-जैसे पुद्गलकर्म विपाक देकर नष्ट होता है, वैसे-वैसे निजविकारके भावभेद भी नष्ट होते हैं। तथा जो भाव नष्ट हो गए फिर उनका होना रुक जाता है। इस प्रकार अचेतन–चेतन संवर पूर्वक कर्म और विकार दोनों नष्ट होते हैं, वह संवरसहित निर्जरा है, ऐसी निर्जरा होते होते जीवका स्वभाव प्रगट होता है, कर्म सब दूर होता है, उससे निर्जरा एकभाव है और जो निर्जरावंत चेतना है वह एक चेतना जीव वस्तु है। इति संवरपूर्वक निर्जराधिकारः ।

(२३) मोक्षाधिकार

इस प्रकार संवर पूर्वक निर्जरा होते-होते जब जीवगुण एककर्म–पुद्गल अथवा जीवद्रव्य एक कर्मपुद्गल सर्वथा जीवसे भिन्न होते हैं तो इन पुद्गलकर्मके सर्वथा नष्ट होते ही जीवका गुणविकार और जीवका प्रदेश विकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जब इसप्रकार पुद्गलकी रोक और जीव विकार सर्वथा नष्ट होते हैं तभीसे मोक्षभाव कहते हैं, ऐसा मोक्षभाव होनेपर साक्षात् जीवका सर्व निजजातिस्वभावरूप प्रगट हुआ। सर्व स्वभावभाव अनादिसे विकाररूप होनेसे गुप्त हो रहा था, वह भी काल प्राप्त होनेपर कुछ विकार

दूर हुआ, उसी समय कुछ स्वरूपभाव साक्षात् प्रगट हुआ। उतना ही स्वरूप वानगी (नमूना)में संपूर्ण स्वरूप वैसा ही प्रतिबिंबित होता है और तबसे स्वरूप क्रमक्रमसे प्रगट होते-होते साक्षात् होता है।

भावार्थ—जितना स्वरूप विकाररूप हुआ था, उतना ही स्वरूप साक्षात् व्यक्त हुआ। इसी-इसी प्रकार स्वरूप आत्माके उत्कृष्ट स्वरूपको साध रहा था, प्रकाशित करता था सो सर्व संपूर्ण प्रगट सिद्ध हुआ। संपूर्ण साक्षात् प्रगट हुआ, अन्य कुछ प्रगट होना शेष नहीं है। जो जिस भाँतिसे स्वरूप प्रगट होना था वह पूर्ण प्रगट हो गया। इस प्रकार आत्माका स्वरूप संपूर्ण परिणाम प्रवाहरूप उत्पन्न हुआ।

उस आत्माको नाम (संज्ञा)से क्या कहते हैं? परमात्मा, सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वस्वविश्रामी, मुक्त, धर्मी, केवल, निष्केवल, स्वयं। तात्पर्य यह है कि सर्व मोक्षभावमें जैसा जीवका स्वरूप था, वैसा ही सर्व परिणमित हुआ। मोक्ष एक भाव है, और जो मोक्षवंत चेतना है सो एक जीव निजजाति है। इति मोक्ष अधिकार।

(२४) कुनयाधिकार

जो कोई विकल्पी इस प्रकार मानता है—स्वभाववाद परिणतिरूप होगा तभी तो स्वभाव मानो, अन्यथा नहीं मानो तो उस अज्ञानीने वस्तुका नाश किया, वस्तुको नहीं जाना। तथा जो कोई इस प्रकार मानता है स्वभाववाद प्रगट परिणतिसे क्या है? वस्तुहीसे कार्य सिद्धि है? सो

ऐसे अज्ञानीने स्वभावभाव परिणतिका नाश किया, शुद्ध होनेका अभाव किया, विकार परिणति सदा रखनेका भाव किया, मुक्ति होनेका नाश किया।

तथा जो कोई इस प्रकार मानता है–यह जो कुछ करता है, सो सर्व पुद्गल कर्म करता है, जीव न कुछ करता है, न कराता है, जैसाका तैसा भिन्न रहता है तो वह अज्ञानी स्वयंको शुद्ध–अशुद्ध दोनोंरूप नहीं देखता है, वह विकार–अविकार स्वभाव दोनोंको नहीं जानता है, वह विकारको नहीं छोड़ेगा। तथा कोई इस प्रकार मानता है–पुद्गल विपाक निमित्तमात्रसे क्या है? स्वयं स्वयंको निमित्त होकर स्वयं विकाररूप परिणमता हूं? तो उस अज्ञानीने विकारको नित्य माना, स्वरूपके समान माना।

सविकल्प अमूर्त्त द्रव्यके छाया तो नहीं है, परन्तु कोई अज्ञानी (जन) जीवके छाया स्थापित करके उस छायाको कर्म विडंबना लगाता है, जीवको भिन्न रखता है तो उस अज्ञानीके यह छाया भी एक वस्तु है, जीव उस छायासे अन्य किस क्षेत्रसे आया? तथा कोई अज्ञानी इस प्रकार मानता है–स्वचेतन पर अचेतन, इतना ही ज्ञान–दर्शन होनेपर जीव सर्वथा मोक्षरूप हुआ है, साक्षात् सिद्धपदको प्राप्त हुआ, सर्वथा ज्ञानी हो निवृत्त हुआ तथा जीवको अब कुछ शुद्ध होना शेष नहीं है, उस पुरुषने भावइन्द्रिय, भावमन, बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक तथा जितनी जीवकी अशुद्ध प्रगट चित्तविकाररूप परिणति उतनी जीवद्रव्यकी नहीं जानी। जीवद्रव्य वर्तमान वर्तता नहीं देखा, उसने

एकदेशभावको संपूर्णभाव स्थापित किया। यह भावइन्द्रिय आदि परिणति किसी और द्रव्यकी स्थापित की, तब उस पुरुषने अशुद्ध परिणति रहनेसे अशुद्ध नहीं माना। तथा इस अशुद्ध परिणतिके जानेसे (नष्ट होनेसे) जीव पर्यायको शुद्ध नहीं मानेगा तब उस पुरुषने साक्षात् परमात्मस्वरूप-संपूर्णस्वरूप-सर्वथा मोक्षस्वरूप होनेका अभाव किया, सदा संसार रखनेका उद्यम किया।

तथा कोई अज्ञानी इस प्रकार मानता है—स्वसंवेदन शक्तियोंको संपूर्ण स्वभावरूप ज्ञान होना मानता है, इतनी ही ज्ञानकी शुद्धता मानता है, इतना ही ज्ञान होना सर्व मानता है, इतने ही स्वसंवेदनभावको स्वरूप मानता है, इसीको सिद्धपद मानता है, अन्य सर्व भावोंसे जीवको शून्य मानता है, चारित्रगुणके स्वभावके समान ज्ञान-दर्शनके स्वभावको मानता है; उस अज्ञानीने ज्ञानका निजस्वभाव स्वज्ञेय-परज्ञेय प्रकाशक नहीं श्रद्धान किया, तथा उस पुरुषने स्वको देखनेका परको देखनेका दर्शनगुणका निजस्वभावरूप श्रद्धान नहीं किया है, तथा उस पुरुषको स्वपरका भेद नहीं उत्पन्न होगा। क्यों? परको जाननेपर स्वका भी जानना होता है क्योंकि परपद तो तब स्थापित होता है जब पहले स्वको स्थापित करे और स्व तब स्थापित होता है जब पहले पररूप स्थापित होता है। और इसीप्रकार कहता है ज्ञानके स्वभावको स्वयं ही स्थापित करनेवाला है, मेरे ऐसा ही ज्ञान प्रगट हुआ है, तो यह पुरुष [illegible] ज्ञाता तो ऐसा भाव करता है परन्तु उस पुरुषके स्वपरप्रकाशकता भाव

सर्वका भावार्थ यह है कि कोई अन्य भाव चेतनारूप नहीं होते। चेतना इन ज्ञानादिभावसे उत्पन्न है।

अब कोई प्रश्न करता है—जो चेतनासे जीववस्तु अनादिसे सिद्ध है तथा इन ज्ञानादिभावोंसे अनादिसे चेतनाकी सिद्धि है, तो उसीमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि उत्पन्न हुए, वह उत्पन्न होना क्या है? उसे तू सुन:—

मित्र! यह उत्पन्न हुई चेतना तथा चेतनाको ज्ञानादिभाव तो अनादिसे जिसप्रकार हैं उसीप्रकार ही हैं, इनमें तो कुछ हलचल नहीं हुई है। प्रत्यक्ष हैं, कहीं आये-गये नहीं हैं, इस बातमें कुछ भी संदेह नहीं है। हे भाई! वस्तु तो सत् है, विद्यमान है, परन्तु अनादिसे यह विभाव–विकारभाव दोष इस जीवको उत्पन्न हुआ इस कारणसे पागल जैसी दशा हो रही है। वह क्या?

स्वको पररूप स्थापित करता है, परको स्वरूप स्थापित करता है, स्वका परका नाम भी नहीं जानता है, दर्शन, ज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र, परमानंद, भोगादिभाव विकारी हो गये, उनमें ज्ञान तो अज्ञान विकाररूप प्रवृत्त हुआ, तब स्वज्ञेय आकारको नहीं जानता है, पर ज्ञेय आकारको नहीं जानता है, स्वज्ञेय परज्ञेयका नाम मात्र भी नहीं जानता है। इस प्रकार ज्ञानकी शक्ति अज्ञानरूप हो प्रवृत्त हुई।

दर्शन, कुदर्शन, विकाररूप प्रवृत्त हुआ—कि स्वद्रव्य (देखने योग्य) वस्तु नहीं देखता है, पर द्रव्य (देखने

योग्य पर) वस्तु नहीं देखता है, स्वद्रव्य और परद्रव्य नाम मात्र भी नहीं जानता है, इस प्रकार दर्शनकी शक्ति अदर्शनरूप ही प्रवृत्त हुई। स्वकी स्वरूप प्रतीति नहीं है, परकी पररूपसे प्रतीति नहीं है, इस प्रकार सम्यक्त्वकी शक्ति मिथ्यारूप हो प्रवृत्त हुई।

चारित्र विभावरूप प्रवृत्त हुआ–तब निज वस्तुभाव स्थिरता–विश्राम आचरण छोड़कर, चारित्रकी सर्व शक्ति पर पुद्गल स्वांगवत् विकारभावोंमें स्थिरता–विश्राम आचरण-रूप प्रवृत्त हुई। इस प्रकार चारित्र विभावरूप प्रवृत्त हुआ।

भोगगुण विभावरूप प्रवृत्त हुआ–तब निज स्वरस स्वादभोग छोड़कर, पर पुद्गल स्वांगवत् चित्‌विकारभावोंके स्वादभोगरूप प्रवृत्त हुआ, इस प्रकार भोगकी शक्ति विभाव-रूप प्रवृत्त हुई।

इस प्रकार भैया, जब चेतना विकाररूप हुई, तब यह चेतना स्वयं नास्तिरूप जैसी हो रही थी। ऐसा कोई कौतुक (आश्चर्यजनक)रूप हुआ जैसे हाथ ऊपर रखी वस्तुको अन्य स्थानमें देखते फिरते हैं, वही दशा इस चेतनाकी हो गई। 'स्वयं नास्ति' यह भ्रमरूप उत्पन्न हुआ। काल प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वगुण, श्रद्धागुण तो विकारसे रहित होकर सम्यक्त्व-रूप हो प्रवृत्त हुआ, अपने शुद्ध श्रद्धानरूप हो प्रवृत्त हुआ। ऐसे निर्विकल्प सम्यक्त्वको सम्यक्‌रूप कहना। तथा जब विशेष भेद विकल्पसे सम्यक्त्वगुणको सम्यक्‌रूप कहना हो तब इस प्रकार कहते हैं—

स्वजातिका स्वजाति द्वारा भिन्न निर्णय हुआ, इतना तो विकल्प जानना। 'सम्यक्' इतना तो निर्विकल्प जानना। तथा उसी समय ज्ञानगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप परिणमित हो केवल जाननेरूप प्रवृत्त हुई, इन ज्ञानकी शक्तियोंको सम्यक्रूप इतना कहना निर्विकल्प। जब सम्यक्ज्ञान शक्तिके भेद विकल्प करें तब—

स्वज्ञेय जाति भेद जानना, परज्ञेय जाति भेद भिन्न जानना, इस प्रकार विकल्प करें। सम्यक्ज्ञान शक्ति इतना कहना निर्विकल्प। उसी समय दर्शनगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यग्दर्शन रूप हो प्रवृत्त हुई केवल (मात्र) दर्शन रूप हुईं। इस प्रकार तो निर्विकल्प दर्शनको 'सम्यक्-रूप' कहना और जब सम्यक्दर्शनको सम्यक् शक्तियोंको विशेष भेद द्वारा कहना हो तब—

स्वद्रव्य वस्तु जाति भिन्न देखना, परद्रव्य वस्तु जाति भिन्न देखना, इन प्रकार तो विकल्प, और दर्शन शक्तिको 'सम्यक्' इतना कहना निर्विकल्प है। उसी समय चारित्रगुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप हो प्रवृत्त हुईं—केवल चारित्र निजरूप हो प्रवृत्त हुईं। इसप्रकार जब चारित्र शक्तियोंको 'निर्विकल्प सम्यक्' कहा तब चारित्रकी सम्यक् शक्तियोंको भेद विकल्पसे इस प्रकार कहना—

परको छोड़ना, निजस्वभावभावमें स्थिरता-विश्राम-आचरण करना यह भी विकल्प है। चारित्र शक्तियोंको 'सम्यक्रूप' इतना कहना निर्विकल्प। उसी समय भोग-गुणकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक्रूप हो प्रवृत्त हुईं—केवल

दर्शन परिणाम तो केवल सम्यक्दर्शन परिणामरूप वर्तते हैं। चारित्र परिणाम तो केवल एक सम्यक् स्वचारित्र परिणामरूप वर्तते हैं। भोग परिणाम तो एक सम्यक् स्वभोगरूप वर्तते हैं, इस प्रकार अपने अपने स्वभावरूप साक्षात् प्रगट हुए परिणाम प्रवर्तते हैं।

इस प्रकार विशेषरूपसे ज्ञानादिगुण सामान्यरूपसे एक चेतना ही स्वभावरूप प्रवर्तते हैं। सम्यक्भाव टंकोत्कीर्ण निश्चलरूप धारण किये हुए परिणमित होता है। इतने कथनसे जो कुछ अन्य प्रकार कहना, वह निःसंदेह सब दोष विकल्प है। क्योंकि उस सम्यक्भाव प्रगट परिणमनमें अन्य परमाणुमात्रका भी कोई लगाव (संबंध) कुछ नहीं। केवल एक अपने आप स्वरूप परिणाम प्रवाह होता रहता है, वहाँ अन्य कोई बात नहीं, अन्य कोई विकल्प नहीं। सम्यग्दृष्टिके द्रव्यमें ऐसी सम्यग्धारा प्रगट हुई है। उनके तो इसी प्रकार प्रवर्तना है, परन्तु अन्य भांति जो कुछ स्वरूपका कथन वह सर्व दोष विकल्प मन वचनके हैं।

इति सम्यग्भावस्य यथाऽस्ति तथाऽवलोकन अधिकारः

सम्यक् निर्णय

अब अन्य कुछ नहीं। द्रव्य जैसाका तैसा ही जानना। जीवके सम्यक् होना ऐसा जानना जैसा पागलसे सयाना (चतुर) होना। इतना ही दृष्टांत भले प्रकार जानना। तथा ज्ञानादि सम्यक्का एक रस, अनेक रस एक ही पिंड

है, दृष्टांत—जैसे पांच रसोंको मिलाकर एक गुटिका बनी। उस गुटिकाका अब विचार करना तो यदि पांचों रसोंको देखें तो एक-एक रस अपने अपने ही स्वादको लिये सर्वथा अन्य रससे भिन्न-भिन्न प्रवर्तता है। किसी रसका स्वाद किसी रसके स्वादसे नहीं मिलता। सभी रस प्रत्यक्ष अपने अपने स्वादरूप अचल दिखते हैं। तथा यदि गुटिका भावकी ओर देखें तो उस गुटिका भावसे बाहर कोई रस नहीं है, जो रस है वह गुटिकाभावमें तिष्ठता है, उन पांचों रसोंका जो मिलकर पुंज या पिंड वही गोली इस प्रकार कथनमें तो भेद विकल्प-सा आता है परन्तु एक ही समय पांचों रसोंका मेलरूप भाव एकांत गोलीका भाव है। सो प्रत्यक्ष शुद्ध दृष्टिसे दृष्टांत और दार्ष्टांत देखना।

इस प्रकार सम्यक्त्वगुण और सम्यक्ज्ञानादि गुणोंकी शक्ति सम्यक्रूप हुई। ये ही पांचों गुण अपने अपने सम्यक्रूप भिन्न-भिन्नरूप परिणमित होते हैं। किसी गुणका सम्यक्भाव किसी अन्य गुणके सम्यक्भावसे नहीं मिलता सम्यक्त्वका जो वस्तु आकार श्रद्धान सम्यक् है, वही श्रद्धान सम्यक्रूप परिणमता है। ज्ञान शक्तियोंका आकार जानना-मात्र है, वही इतना सम्यक्भाव भिन्न ही परिणमित होता है।

दर्शनशक्तियोंका वस्तु देखने मात्र है सम्यक्भाव भिन्न ही परिणमित होता है।

चारित्रशक्तियोंका निजवस्तुके स्वभावमें स्थिरता विश्राम आचरणमात्र रहना ही सम्यक्भाव है वही चारित्रका सम्यक्भाव भिन्न ही परिणमित होता है।

भोगशक्तियोंका निजवस्तुके स्वभावहीमें आस्वादरूप सम्यक्भाव है वह भाव इतना ही भिन्न परिणमित होता है। ये पांचों सम्यक् अपने अपने भावसे परिणमित होते हैं, कोई किसीमें नहीं मिलता और अपने अपने सम्यग्भावसे च्युत भी नहीं होते, जैसेके तैसे भिन्न-भिन्न परिणमित होते हैं। इस प्रकार तो सम्यक् भेदाभेदभावरूप भिन्न-भिन्न प्रवर्तते हैं। तथा जो दूसरे दृष्टिकोणसे विचार करें—

ज्ञानादि सम्यक्, चेतनारूप सम्यक्भावसे भिन्न नहीं है, जरा भी बाह्य नहीं है। सर्व सम्यक् चेतनाभावमें निवास करते हैं। इन पांचों ज्ञानादि सम्यक्का पुंज स्थान ही चेतनासम्यक् है। उन पांचों ज्ञानादि भावके मिलनेसे एक चेतना सम्यक्भाव उत्पन्न हुआ। पांचों सम्यक्भावोंका एक समवाय एक समयमें एकबार परिणमित होता है, उस पुंजको चेतना सम्यक्भाव कहते हैं। इस प्रकार इन पांचों भावोंको एक चेतना सम्यक्भावरूप ही देखना। भेद सम्यक्भाव अभेद सम्यक्भाव कथनमें भिन्न हैं, परन्तु ज्ञान दर्शनमें एक ही साथ दोनों भाव प्रतिबिंबित होते हैं। उन पांचों सम्यक्के कारण चेतना सम्यक् है और चेतना सम्यक्के कारण वे पांचों सम्यक् हैं।

कोई अज्ञानी दोनोंको भिन्न-भिन्न मानता है। उस अज्ञानीने (मान्यतामें) दोनों भावका नाश किया। कुछ भी वस्तुका अस्तित्व नहीं रहा। जैसे उष्णताभाव भिन्न अन्य स्थान कहना, अग्निभाव भिन्न अन्य स्थान कहना। तब वहां वस्तु तो न दिखाई दे। अतः वस्तुका अभाव होकर

शून्यत्वका प्रसंग आता है। तथा तू ऐसा जान कि उष्णता भेदभाव, अग्नि अभेदभाव एक ही साथ है तथा वस्तु भी इसीप्रकार है। इस प्रकार भेद सम्यक्भाव अभेद सम्यक्भाव एक ही स्थान है। निःसंदेह वस्तु इसीप्रकार ज्ञानमें प्रतिबिंबित होती है। इस प्रकार भेद सम्यक्भाव अभेद सम्यक्भाव दोनों एक ही स्थान परिणमित होते हैं।

जब जिसकालमें जिस जीववस्तुको यह सम्यक्भाव प्रगट हुआ, वही जीव सत्व उसीकालमें भेद सम्यक्भावरूप, अभेद सम्यक्भावरूप एक स्थान ही परिणमित होता है, सम्यक्रूप परिणमित होता है, वे ही जीव सम्यक्भाव द्वारा भले प्रकार शोभाको प्राप्त होते हैं।

प्रथम ही प्रथम जब इस प्रकार कितने ही सम्यक्भावको धारण करके जीव प्रगट परिणमित हुआ, उतने भावरूप स्व—अपने आप केवल निर्विकल्प निःसंदेहरूपसे निजस्वरूप सिद्ध साक्षात् आत्मा प्रगट हुआ। उतने ही भावसे आत्मा निजस्वभावमें उतना स्थिर हुआ।

तथा अनादिसे जीववस्तु स्वभावरूपसे असिद्ध हो रहा था,—निज स्वधर्मसे च्युत हो रहा था। जितना आत्मा स्वभावरूप प्रथम प्रगट हुआ स्वरूपभावका जितना नमूना प्रथम प्रगट हुआ, उतने स्वरूपके नमूनेके प्रगट होनेसे जीववस्तुको निजस्वभाव जाति सिद्ध हुई, स्वधर्मने जीववस्तुका स्वरूप दिखलाया।

यह जीववस्तुका मूल निजवस्तुस्वभाव मैं हूँ। वस्तुके

स्वधर्मसे वस्तु साधी जाती है, यह मूल जीववस्तुका स्वभाव-भाव है। इतने स्वभावके नमूनेके प्रगट होनेसे यह प्रथम प्रगट हुआ।

तथा किसीने प्रश्न किया--जैसे सम्यक्त्वगुणको सम्यक् होना कहा, उसीप्रकार ज्ञानादिगुण सम्यक् न कहे, उन ज्ञानादि गुणोंकी कितनी ही शक्तियाँ सम्यक् हुईं कही, इसमें क्या भेद (रहस्य) है।

उत्तरः—यहां सम्यक्त्वगुण तो सर्व सम्यक् हो गया है, तथा ज्ञानादिक गुणोंकी कितनी ही शक्तियां सम्यक्‌रूप हुई, ज्ञानादिगुणोंकी अन्य कितनी ही शक्तियां अबुद्धिरूप मलिन हैं। क्षीणमोह कालके अंतमें ज्ञानादिगुणोंकी सर्व अनंत शक्तियां सम्यक्‌रूप होंगी, तब ज्ञानादिगुण सर्व सम्यक् हुए कहलायेंगे।

पुनः अन्य प्रश्न—जो ज्ञानादि गुण क्षीणमोह कालके अंतमें सर्व सम्यक् होंगे तो वहाँ द्रव्यको ही सम्यक् नाम क्यों न कहा ?

उत्तर—हे भाई ! उस कालमें सर्व शक्तियोंसे सर्व गुण तो सम्यक् हुए, परंतु द्रव्यके प्रदेशोंके कंपनरूप विकारसे भी द्रव्य कुछ मलिन है, तथा वह विकार भी अयोगी गुणस्थानके अंतमें नष्ट होगा, तब द्रव्य सर्वथा सम्यक्‌रूप होगा। त्रैलोक्य ऊपर केवल एक जीव द्रव्य अपने आप निवसेगा। इति सम्यक् निर्णयः।

(२६) अथ साधकसाध्यभाव

जो साधता है वह उसीका साधकभाव जानना। जिस भावके प्रवर्तन हुए विना आगेके अनंतर (उत्तर समयके) भावका प्रवर्तन न हो, उसी भावका (साधकभावका) प्रवर्तन काल हो–प्रवर्तित हो तभी उस आगेके भावका (साध्यभावका) प्रवर्तन अवश्य साधा जाता है। अन्य भावके प्रवर्तन (होने) पर वह (साध्य) नहीं साधना है।

कोई अज्ञानी इस प्रकार जानेगा उस आगेके भावको यह भाव अपने बलसे प्रवर्तन करता है, जोरावरीसे परिणमाता है; इस प्रकार साधकभाव मानना वह तो अनर्थ है।

साधकभाव इतना ही जानना कि वह (साध्य) भाव अपने बलसे प्रवर्तता है परंतु यह है, उस भावके प्रवर्तन कालमें इस (साधक) भावका भी प्रवर्तन होता है। इस प्रकार उस (साधक) भावका होना इस (साध्य) भावके होनेमें साक्षीभूत अवश्य होता है। उस भावको भाव साधकभाव संज्ञा इस अवसर पर जानना।

जैसे दिन जब दोपहर रूप प्रवर्तता है, तब ही दुपहरिया पुष्प विकसित कार्यरूप प्रवर्तता है। यहाँ दुपहरिया पुष्प विकसित होनेमें दोपहर दिनका होना अवश्य प्रत्यक्ष साक्षीभूत है, ऐसा भाव साधक जानना।

[illegible]

साध्य संज्ञा है। उस भावके होने पर अन्य भाव अवश्य ही प्रवर्तित हो, उस भावके होनेसे इस भावका होना अवश्य साधा जाता है अतः इस भावको साध्य कहते हैं। जैसे दोपहर होनेरूप साधकभावसे दुपहरिया पुष्पके विकासित-रूप होनेका कार्य साधा जाता है। इतने भावसे दुपहरिया पुष्पका विकसित होना साध्य कहलाता है।

साधक साध्यभावके उदाहरण

एक क्षेत्रावगाही पुद्गलकर्मोंका उदय सहज ही स्थितिरूप होता है वह साधकस्थाव जानना और उस होनेकी स्थिति तक चित्विकार होनेका प्रवर्तन पाया जाता है वह साध्य भेदरूप जानना।

सम्यक्त्वविकार साधक, बहिरात्मा साध्य है, प्रथम सम्यक्भाव होना साधक, वस्तुस्वभावजाति सिद्ध होना साध्य है। शुद्धोपयोग परिणति होना साधक है, वस्तुका परमात्मस्वरूप होना साध्यभाव है। सम्यग्दृष्टिके व्यवहार रत्नत्रयका युगपत् होना साधक है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है। सम्यग्दृष्टिके विरतिरूप व्यवहार परिणति होना साधक है, चारित्रशक्ति मुख्यस्वरूप होना साध्य है। देव, गुरु, शास्त्रभक्ति विनय, नमस्कारादिभाव साधक हैं, विषय-कषाय आदि भावोंसे हटकर मन परिणतिका स्थिरताभाव साध्य है। एक शुभोपयोगकी व्यवहार परिणतिकी रीति-होना साधक है, परंपरा मोक्ष परिणति होनी साध्य है।

अन्तरात्मारूप जीवद्रव्य साधक है, अभेद स्वयं ही

परमात्मरूप जीवद्रव्य साध्य है। ज्ञानादिशक्ति मोक्षमार्ग-रूपसे साधक है, अभेद स्वयं ही ज्ञानादि गुण मोक्षरूपसे साध्य है। जघन्य ज्ञानादि भाव साधक है अभेद स्वयं ही उन्हीं ज्ञानादि गुणोंका उत्कृष्टभाव साध्य है। स्तोक निश्चय परिणतिसे ज्ञानादिगुण साधक हैं, अभेद स्वयं ही बहुत निश्चय परिणतिरूपसे ज्ञानादिगुण साध्य हैं। सम्यक्त्वी जीव साधक है, उस जीवके सम्यक्ज्ञान, दर्शन, सम्यक्-चारित्र साध्य है, गुण मोक्ष साधक है, द्रव्यमोक्ष साध्य है। क्षपकश्रेणी चढ़ना साधक है, तद्भव साक्षात् मोक्ष साध्य है।

तथा द्रव्य यति और भाव यतिपनाका व्यवहार साधक है, साक्षात् मोक्ष साध्य है। भावितमनादि रीति विलय साधक है, साक्षात् परमात्मा केवलरूप होना साध्य है। पौद्गलिक कर्म खिरना (झड़ना) साधक है, चिद्विकारका विलय होना साध्य है। परमाणुमात्र परिग्रह प्रपंच साधक है, ममताभाव साध्य है। मिथ्यादृष्टि होना साधक है, संसार-भ्रमण होना साध्य है, सम्यग्दृष्टि होना साधक है, मोक्षपद होना साध्य है। जब काललब्धि साधक है, तब उसको वैसा ही भाव होना साध्य है। इस प्रकार साधक-साध्यभाव भेद-अभेदरूपसे बहुत प्रकारसे जानना।

इति साधकसाध्य अधिकार:

(२७) मोक्षमार्ग अधिकार

जब प्रथम ही काललब्धि प्राप्त होनेपर सम्यक्गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परमानन्द, भोगादि गुणोंकी जितनी शक्ति निर्मलरूप होकर प्रवर्तित हुई। जीवद्रव्य उतने ही निजधर्मसे सिद्ध हुआ। तबसे जीवको मुख्यत: सम्यग्दृष्टि संज्ञा कहते हैं, अथवा ज्ञानी भी कहते हैं, तथा दर्शन, चारित्रादि स्वभाव संज्ञासे भी जीवको कहे तो कोई दूषण नहीं है, परन्तु लोकोक्तिमें सम्यग्दृष्टि जीवको उपरोक्त मुख्य संज्ञा (ज्ञानी)से कहते हैं।

ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवके जबसे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि स्वभावरूप प्रगट हुए तबसे मोक्षमार्ग प्रारंभ हुआ–प्रवर्तित हुआ। (परन्तु एक बात है) तबसे मुख्य चारित्रगुणकी शक्तियोंका स्वभावरूप परिणमित होनेका विवरण। उसमें मन, वचन, कायका प्रथम कहते हैं–

मिथ्यात्व गुणस्थानमें तो एक मुख्य विषय–कषायादि अनर्थ पापरूप अशुभोपयोगरूप मनादिमें प्रवर्तता है तथा चौथे गुणस्थानसे देव-गुरु-शास्त्रादि प्रशस्तोंमें भक्ति, विनय-रूप शुभोपयोगरूप–मनादिकी वृत्ति मुख्य जैसी होती है तथा विषय–कषाय हिंसादिरूप अशुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति भी अपने–अपने कालमें होती है।

इसके पश्चात पांचवें गुणस्थानमें विरति–व्रतादिरूप शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति मुख्य प्रवर्तती है तथा कभी गौणरूपसे अशुभोपयोगरूप भी मन आदि (वृत्ति)

प्रवर्तती है। छठवें गुणस्थानमें यह भोग, कांक्षा, कषाय, हिंसादिरूप अशुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति सर्व नाश जैसी हो जाती है। तथा सर्व विरति–सर्वव्रत निर्ग्रंथ क्रियामें यह जो सर्व संयम, द्वादशांग अभ्यास, देव-शास्त्र-गुरु भक्ति क्रियादिरूप, एक केवल ऐसे शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति प्रवर्तती है। यहाँ इतना विशेष जानना कि–चौथे गुणस्थानसे छठवें गुणस्थान तक स्वस्वभाव अनुभवरूप शुद्धोपयोगकी भी कुछ कुछ कदाचित् कदाचित् मनकी वृत्ति प्रवर्तित होती है—ऐसा जानना।

सातवें गुणस्थानमें शुभोपयोगरूप मनादिकी वृत्ति नाश होती है तथा केवल एक शुद्धोपयोग–स्वअनुभवरूप उत्पन्न होता है उसका विवरण—

इस कायकी चेष्टा–हलन, चलन, गमन, उठना, बैठना, कांपना, फड़कना, जंभाई, छींक, उद्गारादि सब काय चेष्टा थी वह नष्ट हुई। काष्टकी प्रतिमावत् स्वयं ही पद्मासन या कायोत्सर्ग आकार हुआ। काय इंद्रिय, रीति, विषयवासना भी वह नष्ट हो गई। निश्चल काष्ठ प्रतिमा और इसमें कुछ भेद नहीं रहा। काष्ठ प्रतिमावत् जड़ शरीरकी दशा हुई तब वचन क्रिया भी वह सहज ही रुक गई। यदि वह काष्ठकी प्रतिमा बोले तो यहाँ यह अप्रमत्त साधु भी बोले (अवाची काष्ठ प्रतिमावत्।)

यहाँ अष्टदलरूप द्रव्यमन भी निश्चल हो गया, इस पौद्गलिक मन आदिकी रीति (क्रिया) तो इसप्रकार सहज ही स्थगित हो गई। तथा जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि

विकाररूप होकर विषयोंहीके ऊपर-ऊपर इन्द्रियोंके मार्गसे प्रवर्तते थे, वे शरीर इन्द्रियोंका अभ्यास-मार्गप्रवर्तन छोड़कर एक स्ववस्तुभाव अभ्यासरूप मार्गमें प्रवृत्त हुए।

तथा जीवके ज्ञान दर्शन, चारित्रादि विभावरूप होकर वचनविषयमें प्रवर्तते थे, वे (परिणाम) भी वचन-अभ्यासरूप मार्ग छोड़कर एक स्ववस्तुभाव अभ्यासरूप मार्गमें परिणमित हुए, प्रवृत्त हुए। तथा जीवका ज्ञान, दर्शन, चारित्रादिरूप भावमन विकाररूप होकर अष्टदल कमलस्थानमार्गसे अनेक इष्ट-अनिष्ट लाभ-अलाभ, अशुभ-शुभोपयोगादिभावरूप विकल्प समूहोंमें चंचल अभ्यासरूप प्रवर्तता था, वह भावमन एक स्ववस्तुभाव सेवनके लिये अनुभवरूप प्रवृत्त हुआ। अन्य सर्व विकल्प चिंताओंमें था उससे मुक्त हुआ, और वह एक स्ववस्तुभाव अनुभव करनेमें प्रवृत्त हुआ।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि विकाररूप मन, वचन, काय, व्यवहारपरिणतिरूप था वह नष्ट हो गया, एक स्ववस्तुभाव सेवनरूप अनुभवनरूप निश्चयसंयुक्त हुआ, तब उसे ही संयमी, शुद्धोपयोगी तथा प्रधान अनुभवी कहते हैं। वहाँ परभावोंका अर्थात् व्यवहार परिणतिका सर्व सेवन मिट गया, एक केवल आत्मस्वरूपके अनुभव निश्चयरूप परिणति प्रवृत्त हुई। इसप्रकार यह मनादिकी वृत्तिका स्वरूपमें एकाग्रतारूप वह शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ।

जब यह शुद्धोपयोग उत्पन्न हुआ, तब यश, अपयश,

लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि सर्वभावोंमें समानभाव हो गया। समानपने (मुख्यतासे) कोई आकुलता शेष नहीं है।

जब यह शुद्धोपयोग प्रगट हुआ, तबसे परमात्म-सुखका अतीन्द्रियस्वाद प्रगट होता जाता है। इसप्रकार जब शुद्धोपयोगका कारण उत्पन्न हुआ, तभीसे मुख्यरूपसे साक्षात् मोक्षमार्ग कहते हैं। तथा तभीसे चारित्रगुणकी मुख्यतासे मोक्षमार्ग जानना।

सातवें गुणस्थानसे जैसे-जैसे आगेका [अग्रिम गुण-स्थानोंको] काल आता है, उस-उस कालमें चारित्रादि गुणोंकी अनेक अनेक शक्तियां पुद्गल वर्गणाके आच्छादन और चिद्विकारसे मुक्त हो-होकर साक्षात् निश्चय निजस्वभाव शक्तिरूप परिणमित होती जाती हैं। इसीप्रकार जैसे-जैसे आगेका काल आता है, वैसे-वैसे चारित्रादि गुणोंकी अनेक अनेक शक्तियां पुद्गलवर्गणाके आच्छादन और चिद्विकारसे मुक्त हो-होकर साक्षात् निज-निजस्वभाव शक्तिरूप होती जाती हैं। इसप्रकार समय समयमें चारित्र शक्तियोंका शुद्धरूप होनेका प्रवाह प्रति समय समय बढ़ता जाता है।

यह शुद्धशक्ति ही मोक्षमार्ग अवस्था जानना। यह मोक्षमार्ग बढ़ते बढ़ते जब क्षीणमोह अवस्था आई, तबसे ज्ञानादिकी रीति परिणति, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्ति एकदेश अभ्यासरूप शुद्धोपयोगरूप थी। तथा किञ्चित् ज्ञान दर्शन चारित्रादि शक्ति अशुद्धरूप व्यवहारपरिणतिरूप थी, वे शक्तियां सर्वथा मुक्त होकर निजजाति स्वभावरूप निश्चय परिणमित होती हैं। आत्म-अव्यक्तभाव भी मुक्त होते

(२८) अन्तर्व्यवस्था कथन

ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका कर्मानुभवसे भेदमात्र होना–पृथक् होना, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका स्वरूपमें आना तथा तीनों शक्तियोंके विकारका नाश होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी निश्चय परिणति होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी व्यवहार परिणतिका विलय होना; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी शुद्धताकी उत्कृष्ट वृद्धि होना; ज्ञान दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंकी अशुद्धताकी हानि होना; ज्ञानगुणकी शक्तियोंका एकाकार जाननेरूप सम्यक् होना; दर्शनगुणकी शक्तियोंका एक अनाकार जाननेरूप सम्यक् होना; चारित्रगुणकी शक्तियोंका एक स्ववस्तु-रूपमें आचरण-स्थिरता विश्राम सम्यक्रूप होना इत्यादि जीवके सर्वभावोंका प्रारंभ चौथे गुणस्थानसे होता है। तथा बारहवें गुणस्थानके अंत तक सम्पूर्ण भाव होता है।

निःशंकरूपसे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणोंका अन्यथा भाव; ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि शक्तियोंका साक्षात् क्षयोपशम होनेरूपभाव, अतदाकारभाव, सविकल्पभाव, [illegible] परिणाम, विकारशक्ति परिणाम इत्यादि भिन्नभाव जीवको चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहता है।

चौथे गुणस्थानसे जब चारित्रगुणकी जो जो शक्तियाँ विकारभाव अर्थात् रागद्वेषका नाश, [illegible] विकारसे भिन्न हो

हो कर, साक्षात् निजस्वरूप होकर केवल परिणमित होती है उस काल उन शक्तियोंको तो कोई आस्रव-बंधका प्रश्न ही नहीं उठता, वे शक्तियां तो स्वरूपसे सिद्ध हो जाती हैं। उसी कालमें उन शक्तियोंको तो कोई विकल्प लगता ही नहीं है; परन्तु चौथे गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टिके चारित्र-गुणकी शक्ति जब बुद्धिपूर्वक विकल्परूप हो परिणमित होती है अर्थात् जब विषय, कषाय, भोग-सेवनरूप, इष्ट रुचि, अनिष्ट अरुचि, हिंसारूप, रति–अरतिरूप, अविरति रूप, परिग्रह विकल्परूप आदि अथवा शुभोपयोग विकल्प-रूप आदिसे बुद्धिपूर्वक जो शक्ति परिणमित होती है तब परावलंबन चंचलतारूप मलिन भी होती है, तो भी उस शक्ति द्वारा ज्ञानी आस्रव–बंध विकारको उत्पन्न नहीं करता। किस कारणसे ? क्योंकि सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धिपूर्वक विकल्परूप चारित्र चेष्टाको जाननेमें समर्थ है। उस चेष्टाको जानते ही सम्यग्दृष्टिको विषय–भोगादिभाव विकाररूप भिन्न ही प्रतिबिंबित होते हैं तथा चेतना-स्वभावभाव भिन्न प्रवर्तते हैं। एक ही कालमें सम्यक्-ज्ञानीको भिन्न–भिन्न प्रत्यक्ष होते हैं। इस कारणसे उस चारित्रशक्तिमें बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, मोह, विकार प्रवेश नहीं करता।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि बुद्धिपूर्वक विकल्परूप परिणतिसे भी सर्वथा बारहवें गुणस्थान तक निरास्रव–निर्बंध प्रवर्तता है। तथा उसी सम्यग्दृष्टिके चेतना विषय, कषाय, भोग,

हिंसा, रति, अरति आदि अबुद्धिरूप परिणमते हैं, वे उदन्यज्ञान—सम्यक् मतिज्ञान और सम्यक् श्रुतज्ञानके गोचर नहीं होते; अज्ञान सहित हैं अतः अबुद्धि शक्तियोंमें राग, द्वेष, मोह विद्यमान हैं। अतएव अबुद्धिरूपसे किंचित्‌मात्र आगेसे दसवें गुणस्थान तक आस्रव—बंधभाव उत्पन्न होता है। जीवके ज्ञानादिगुण व्यवहार परिणति ×अशुद्ध परिणति, अबुद्धि तथा बुद्धिरूप परिणतिरूप दसवें बारहवें गुणस्थान तक परिणमित होते हैं। इति अंतर्व्यवस्था कथन।

---

(२९) सम्यग्दृष्टि सामान्य विशेषाधिकार

तथा सम्यग्दृष्टि जीवके स्वस्वरूप निर्विकल्प अनुभव शुद्धि—परिणतिमें एक परमाणु भी रागादि विकार नहीं है तथा सामान्यसे सम्यग्दृष्टिको, ज्ञानीको, चारित्रीको इसी-प्रकार कहा जाता है। मुख्यरूपसे निर्बंध, निरास्रव, निष्परिग्रह, शुद्ध, भिन्न, परमाणुमात्र रागादिरहित कहे जाते हैं, शुद्ध—बुद्ध कहे जाते हैं। विकारका होना नहीं कहा जाता, क्योंकि जैसे सामान्यसे सर्व चेतनद्रव्य वंदनीक ही कहे जाते हैं, निंदित कोई नहीं है।

तथा विशेष भेद करने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि [illegible] होनेसे सम्यग्दृष्टिको कथंचित् अबुद्धिपूर्वक आस्रव, बंध, सरागादि, विकार मिश्रित जीवद्रव्य कहा जाता है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि उत्कृष्ट होनेसे सम्यग्दृष्टिको

× अशुद्धपरिणति = उस भूमिकाके योग्य शास्त्रकर्म, [illegible]

सर्वथा, सर्व प्रकारसे साक्षात् निर्बंध, निरास्रव, वीतरागी, निष्परिग्रही जीवद्रव्य कहा जाता है। जैसे स्पर्श करके आमोंका भेदके द्वारा निर्णय करनेपर कोई आम किसी अंशसे कच्चेपनेके कारण मिश्रित भी कहा जाता है परन्तु सामान्यसे वे ही आम निःसंदेह सर्वथा पके हुए कहे जाते हैं।

इति सम्यग्दृष्टि सामान्य विशेषाधिकारः

हे भव्य! तू इस प्रकार जान—जो पौद्गलिक पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षको तो जीव तीन कालमें, कभी भी बिलकुल भी स्पर्श नहीं करता। यद्यपि एकक्षेत्रावगाही भी है, तथापि जीवने उनको कभी भी स्पर्श नहीं किया है।

तथा जो यह दश प्रकारका परिग्रह पुद्गल है—गृह, क्षेत्र (खेत) बाग, नगर, कुएं, वापी (बावड़ी), तड़ाग (तालाब), नदी आदि आदि सर्व पुद्गल; माता, पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री, वधू, बंधु, स्वजन, मित्र आदि सर्व; सर्प, सिंह, व्याघ्र, हाथी, भैंसा आदि सर्व दुष्ट, अक्षर शब्द, अनक्षर शब्द आदि सर्व शब्द; खान, पान, स्नान, भोग, संयोग, वियोग आदि सर्व क्रिया; परिग्रह मिलाप वह बड़ा परिग्रह, परिग्रह नाश वह दरिद्र आदि सर्व क्रिया चलना, बैठना, हिलना, बोलना, कांपना आदि सर्व क्रिया; लड़ना, भिड़ना, चढ़ना, उतरना, कूदना, नाचना, खेलना, गाना, बजाना आदि सर्व क्रिया; इस प्रकार इन सर्वको तू पुद्गल स्कंधोंका ही भेद जानना। इनको इस जीवने कभी भी तीन कालमें स्पर्श नहीं किये। यह तू निःसंदेह जानना।

कालके निमित्तसे ये पुद्गल स्वयं आते हैं, स्वयं जाते हैं, स्वयं मिलते हैं, स्वयं बिछुड़ते हैं, अपने आप पुद्गल संबंधमें बँधते हैं, आपने आप पुदुगल घातक होकर घट जाते हैं। देखो ! इन पुद्गलोंका भी अपने पुद्गलकी जातिसे तो संबंध है, परन्तु इस जीवको ये पुद्गल तीनकालमें कभी भी स्पर्शित नहीं हुए। अपने आप ही पुद्गल खेलता है।

हे संत ! जब यह जीव अज्ञानादि विकाररूप प्रवर्तता है, तब इस पुद्गलके खेलको भी देखकर जीव अपने परिणामोंमें ऐसा मानता है। 'ये सर्व कार्य मेरे करनेसे हुए हैं,' यही चित्‌विकारका माहात्म्य जानो। हे संत ! स्वयं उसको कभी स्पर्श नहीं किया और वह इसको कभी भी स्पर्श नहीं करता। उसको देख जान कर "मैं करता हूं, इससे सुख प्राप्त करता हूं, इससे खेद प्राप्त करता हूं" ऐसा जीवको प्रत्यक्ष झूठा भ्रम हो गया है। ऐसा तू जान।

हे भव्य ! ज्ञानी इस प्रकार निश्चयसे देखता है जानता है–

सर्व पौद्गलिक वर्ण, रस, गंधादिकोंसे उत्पन्न हुए इन सर्व खेल अखाड़ेसे अपना कुछ भी संबंध नहीं देखता है क्योंकि यह पौद्गलिक नाटक जगत् [illegible] उत्पन्न हुआ है, यह नाटक पुद्गलका बना है यह नाटक [illegible] उत्पन्न हुआ है तथा यह नाटक तो अनेक [illegible] फिरकर [illegible] है और इससे तो मेरा किसी भी प्रकारसे संबंध तीनकालमें होता दिखाई नहीं देता है।

दुःख रंजित हुए, तब इस प्रकार अमूर्तिक चेतन पाप स्वांग भेद जीवोंके उत्पन्न हुआ।

तथा एकक्षेत्रावगाही (पुराने कर्म) पौद्गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, आस्रवका स्वांग बना है। इस जीवके उपयोग परिणाम उस ज्ञेयके देखने जानने-रूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजित हुए। तब उन रंजित परिणामरूप परिणमित होते हुए नये-नये सुखाभासरूप दुःख संताप, दुःखोंके रसास्वाद उत्पन्न होने, उस रसास्वाद होनेके अथवा उस रसास्वाद आनेके कारण, मार्ग अथवा द्वारको आस्रव नामसे कहते हैं। इस प्रकार उस भावका अमूर्तिक चेतन जीवके आस्रव स्वांगभेद उत्पन्न हुआ।

तथा नयी नयी वर्गणा आनेके मार्ग पौद्गलिक मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग नष्ट होनेसे नवीन वर्गणा नहीं आती है। इस मार्गका नष्ट होनेका नाम पौद्गलिक संवर स्वांग है। इस जीवके उपयोग परिणाम ज्ञेयके देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकार-रूप विश्राम अथवा रंजित हुए। तब रंजित परिणाम रसास्वाद सुखाभासरूप दुःख है और दुःख होनेका कारण है। जब रंजितभाव नहीं होता तब इसके न होनेसे नाम अमूर्तिक जीवके संवर भेद उत्पन्न हुआ।

पौद्गलिक परमाणुओंका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] रस भाव [illegible] [illegible] दो गुण अधिक [illegible] [illegible] [illegible] होता है, [illegible] [illegible] [illegible]

गलिक वंध स्वांग वनता है। इस जीवके उपयोग परिणाम ज्ञेयके देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन्हीं परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजित हुए। तव उपयोगोंके जो ज्ञेयाकाररूप परिणाम रंजित होते हैं, उन परिणामोंके आकारोंसे संवंध करनेवाला रंजन—राग होता है उस ज्ञेय आकारसे संवंध करनेवाला रंजन राग होता है ज्ञेय आकारसे रंजितपना (एकता) होता है वह अमूर्तिक चेतन जीवका वंध स्वांग भेद होता है।

तथा पौद्गलिक कर्मस्कंधसे वर्गणाका अश-अंश खिर जावा पौद्गलिक निर्जरा स्वांग है। इस जीवके उपयोग परिणाम परज्ञेय देखने जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम उन परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजितरूप हुए, इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, परज्ञेय आकारभाससे अशुद्ध परभावरूप हुए हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्रादिकोंका परभाव-रूप (–अशुद्ध) परिणमन जव थोड़ा-थोड़ा नष्ट होता जाता है वह अमूर्तिक चेतन जीवका संवर पूर्वक विर्जरा स्वांग भेद है।

तथा पौद्गलिक सर्व कर्म स्कंधोंका जीव प्रदेशोंसे सर्वथा पृथक् होकर खिर जाना पौद्गलिक मोक्षस्वांग है। इस जीवके उपयोग परिणाम परज्ञेय देखने-जाननेरूप हुए और चारित्रपरिणाम भी उन परिणामोंके आकाररूप विश्राम अथवा रंजतारूप हुए। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र परज्ञेय आकारभावसे अशुद्ध परभावरूप हुए हैं। जीवद्रव्यके ज्ञान, दर्शन, चारित्रादिकका परभावरूप जो

परिणमन था वह सर्व सर्वथा नष्ट हो जाना वही अमूर्तिक चेतन जीवका मोक्षस्वांग भेद कहलाता है।

इस प्रकार ज्ञानी चेतन अमूर्तिक जीवके इस नाटकको पुण्य, पाप, आस्रव, संवर बंध, निर्जरा, मोक्षरूप एक क्षेत्रावगाह पुद्गल नाटकसे भिन्न ही देखता है। पुद्गलसे रंचमात्र भी संबंध नहीं देखता है। जैसेका तैसा जीव नाटक भिन्न देखता है और फिर अपना (जीवका) नाटक देखता है, यह क्या ?

यह जो एकक्षेत्रावगाही पौद्गलिक वस्तु कर्म नाटक बना है, वैसा ही इस जीवका परभाव नाटक बना है। वैसा ही सो किस प्रकार? पौद्गलिक मूर्तिक अखाड़ेमें वर्गणा, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, कर्मसंज्ञा स्वांगधारण कर नृत्य करती है। तब उसके अनुसार मान्यता (परिणाम) इस जीवके भी देखे जाते हैं। नाटक किस प्रकार ?

ज्ञान और दर्शनहीका परम निजजातिस्वभाव [illegible] लोकालोकको युगपत् सर्व ज्ञेयोंको एक समयमें [illegible] देखना होता है। यह तो ज्ञान-दर्शनका निजस्वभाव [illegible] अथवा इसको कोई ज्ञान, दर्शन मान हो सकता है। [illegible] तब इस प्रकार लोकालोकका जानना देखना नहीं [illegible] कर ज्ञान-दर्शनगुणोंका अंशको नहीं जाने, नहीं देखे [illegible] भाव स्वभाव है, परभाव है अथवा [illegible] है। इस कारण यह ([illegible]) [illegible]

भावोंमें प्रत्यक्ष है।

अतः देखो मित्र ! एक ज्ञान–दर्शन ही निजभावरूप भी और परभावरूप भी होता है। जब तक ज्ञान–दर्शन परभाव अथवा आवरणभावरूप व्यक्त प्रवर्तते हैं, तब तक ज्ञान, दर्शनगुण निजभाव (अथवा वस्तु नामभाव)रूप नहीं प्रवर्तते हैं। अतः उस परभावके रूप व्यक्त प्रवर्तनसे निजभाव प्रवर्तनकी व्यक्तता आच्छादित है। अतएव ज्ञान, दर्शन-स्वभावोंको परभावकी व्यक्ततारूप आवरण कार्य उत्पन्न हुआ।

तब देखो, यह ज्ञान स्वयं ही आवरणरूप बना है अतः उसको ज्ञानावरण कार्य अमूर्तिक चेतनस्वांगभेद उत्पन्न हुआ है तथा यह दर्शन स्वयं ही आवरणरूप बना है; अतः उसको दर्शनावरण कार्य अमूर्तिक चेतन स्वांगभेद उत्पन्न हुआ है।

तथा पौद्गलिक कर्म अखाड़ेमें कटुक स्वाद वर्गणा मिलकर असाता तथा मिष्ट स्वाद वर्गणा मिलकर साता इस प्रकार मूर्तिका अचेतन वेदना संज्ञा स्वांग बना है। इस जीवके उपयोगपरिणाम साता अथवा असाता ज्ञेय देखने जाननेरूप हुए और चारित्र परिणाम भी उन परिणामोंके आकाररूप पर विश्राम अथवा रंजनारूप हुए तथा उन्हीं चारित्रपरिणामोंके भावोंके ही अनुसार भोगगुणके हुए परिणाम भोगवेरूप अथवा ज्ञेयभास आस्वादरूप वा वेदनेरूप अथवा विपरीत भावरूप हुए। इस प्रकार ज्ञेयभास भोगनेरूप विपरीत परिणामोंको वेदन करने रूप कार्य बना है, यह भी इस प्रकार जीवके अमूर्तिक चेतन वेदनास्वांग है।

तथा उस पौद्गलिक अखाड़ेमें मोह उन्मत्त प्रमादरूप वर्गणा स्वांग धारण करके नृत्य करता है। और उस मोहमें जातिभेद बहुत होते हैं। उनमें एक मोह वर्गणा तो सम्यक्त्व मोह संज्ञा धारण कर उन्मत्त नृत्य करती है। इस जीवके सम्यक्त्वगुणका निजस्वभाव निजसत्त्व वस्तुकी निजजातिरूप अपना आस्तिक्य-यथार्थतारूप-यादरूप आचरण है। यह सम्यक्त्वका भाव है और वही सम्यक्त्व है। उपयोग द्वारा ज्ञेय देखा जाना जाता है, उस ज्ञेय वस्तुको अथवा एक प्रकारको सर्वथा स्ववस्तुरूप आस्तिक्य आचरणरूप व्याप्यव्यापक होता है वही सम्यक्त्व-आचरणगुणका ऊपरीभाव (विपरीतभाव) है; सम्यक्त्वका परभाव है, मिथ्यामोहभाव है अथवा मोहभाव है। इस प्रकार सम्यक्त्व आचरण गुणका उस मिथ्याभावसे व्याप्य-व्यापक होकर कार्य होता है। अमूर्तिक चेतनरूप जीवका जो यह सम्यक्त्वमोह कार्य स्वांग भेद बना है।

---

(३०) सम्यक्त्वगुणका कुछ विवरण

देखो मित्र! जैसे उपयोगके दो भेद हुए हैं—सामान्य रूप अवलोकन दर्शनगुण है, विशेष अवलोकन ज्ञानगुण है, इस प्रकार सामान्य विशेषसे उपयोगके दो भेद हुए। वैसे ही प्रकार आचरणके दो भेद हुए—सामान्य स्ववस्तु [illegible]

तथा उस पुद्गल स्कंधोंमें चारित्रमोह संज्ञक स्वांग-रूप वर्गणा उत्पन्न हुई है, उसे भेद करके कहते हैं—

क्रोधः—पौद्गलिक कर्मवर्गणा अपने स्कंधोंको अथवा परके स्कंधोंको तप्तरूप, क्रुद्धरूप, उबलनेरूप अथवा मंथन, तोड़न छेदन, मर्दन, संयम घातनादिरूप होकर परिणमित होती है. वह पौद्गलिक क्रोध, चारित्र, मोहका स्वांग बना है। तथा इस जीवके चारित्राचरण गुणका निजभाव तो उपयोग चेतनवस्तुरूप विश्राम स्थिर रहना है; उपयोगों द्वारा परज्ञेय देखते जानते हैं, उस ज्ञेयमें स्थिरतारूप रंजना चारित्राचरणगुणका ऊपरी भाव है—विपरीतभाव है अथवा मोह विकल भाव है। मोहरूप चारित्रगुणका ऐसा अमूर्तिक चेतन स्वांग बना है, अब उसके भेद कहते हैं—

परज्ञेयको उपयोगोंके द्वारा देखता जानता हुआ उस भिन्न ज्ञेयके प्रति द्वेषरूप, संताप उद्वेगरूप, क्लेश तप्त क्षोभ-रूप अथवा हनन (नष्ट करना), हिंसन, तोड़ना, खण्डन करना, छेदन, भेदन, मर्दन आदिरूप रंजित होना वह अमूर्तिक चारित्रगुणके मोहभावका चेतन क्रोधके भेद स्वांग है।

मानः—तथा उस पौद्गलिक चारित्रमोह कर्मवर्गणा परिणमनेके कारण मन, वचन, काय स्कंध दुष्ट क्रूर, स्तब्ध. उन्नत, अकड़ आदिरूप होते हैं, वह पौद्गलिक मान-मोह-भेद उत्पन्न होता है। तब इस जीवके एकक्षेत्रावगाही पौद्गलिक मन-वचन-कायादिके शुभ प्रवृत्ति ज्ञेयको; निकट-वर्ती माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, स्वजन, सम्बन्धी, मित्रादि ज्ञेयको; उच्चकुल, जाति, धन, विद्या. कला, रूप,

वस्त्र, परिग्रह, लाभ, अधिकारी, देशादि संयोग रीति ज्ञेयोंको; और अत्यन्त निकटवर्ती शुभ पुद्गल रीति ज्ञेयोंको उपयोग द्वारा देख-देखकर जान जानकर उन ज्ञेयोंमे अपनेको भला, अपनेको बड़ा, अपनेको पवित्र, अन्य लोगोंसे अपनेको उच्च, अपनी स्तुति (प्रशंसा) इत्यादिरूप हो रंजित होना वह अमूर्तिक चेतन चारित्राचरण मोहका मान भेद प्रवर्तता है।

मायाः—तथा उस पौद्गलिक कर्म अखाड़ेमें पौद्गलिक वचन, काय, योग, वर्गणा शुभरूप खिरे है, पौद्गलिक वचन काय, वर्गणा, दुष्ट, क्रूर, तमरूप खिरे है, पौद्गलिक मन-वर्गणा दुष्टरूप खिरे है, अथवा पौद्गलिक मनवर्गणा शुभ योगरूप खिरे है। यह भाव पौद्गलिक मोहका इस प्रकारका मायारूप स्वांग उत्पन्न होता है।

तब (जीवके) सर्व जीव-अजीव स्कंधादि ज्ञेयोंको भिन्न अस्पृष्ट रूपसे उपयोगों द्वारा देखते जानते हुए इस जीवके उन ज्ञेयस्कंध प्रति कितनी ही लोभ, रति आदि रागरूप रंजित बहुत-सी पाक्ति और कितनी ही क्रोध, मान अरति, भय, शोक आदि द्वेष तृष्णा रंजितरूप अन्त-र्गत, अथवा द्वेष रंजितरूप प्रचुरशक्ति रागतृष्णा रंजित रूप कल्पनाओंसे उस अपने ज्ञेय समूह प्रति [illegible] रंजित होना यह जीवका अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका [illegible] स्वांगभेद रचता है।

रूप परिणमित होती है, वह पौद्गलिक मोहका लोभ स्वांग उत्पन्न होता है। जैसे लोहे और चुम्बकका आकर्षणरूप न्याय।

तब कुटुम्ब परिकर आदि सर्व परिग्रह और यश:कीर्ति आदि सर्व ज्ञेय समूह उन ज्ञेयोंको अस्पर्शरूपसे उपयोगों द्वारा देखते जानते हुए उन ज्ञेय समूह प्रति अत्यागरूप (न छोड़ने रूप) राग तृष्णा अथवा उन ज्ञेयों प्रति तृष्णा-लालच-अभिलाषा-व्यसव-चाह इच्छादिरूप राग रंजितभाव, वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका लोभस्वांग भेद प्रवर्तता है।

हास्यः—तथा पौद्गलिक मन-वचन-कायादि वर्गणाओंके विकसित होनेरूप खिलनेरूप जैसे प्रत्यक्ष आंख, होंठ दांत आदि अनेक प्रकार खिलनेरूप जोरसे हंसनेरूप होते हैं। वह पौद्गलिक योगोंके खिलनेरूप मोहकर्मका हास्य स्वांग उत्पन्न होता है। तथा बुरेरूप अथवा भलेरूप पौद्गलिक स्कंध ज्ञेय अथवा पौद्गलिक योगोंकी बुरी–भली चेष्टारूप ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते जानते जीवका आनन्दप्रसादरूप-प्रसन्नरूप विकस्वररूप आदि रंजित होना (रंजना) वह चेतन अमूर्तिक चारित्रमोहका 'हंसना' स्वांग है।

रतिः—(उस पौद्गलिक आखड़ेमें) पौद्गलिक मन, वचन, काय, योग, वर्गणा, स्कंधके जिस अन्य पौदुगलिक स्कंधसे संबंध करनेको तथा शीघ्रसंबंध करनेको प्रवृत्त होनेसे पौद्गलिक मोहका रतिस्वांग उत्पन्न होता है। तब इस जीवके उपयोग द्वारा जिस ज्ञेयको देखते जानते हुए उसका स्पर्श करके ज्ञेय प्रति रुचिरूप, रागरूप, हितरूप, स्नेहरूप,

स्नेहरूप आदि रंजित होना, वह अमूर्तिक चेतन चारित्र मोहका रति स्वांग भेद जानना।

अरतिः—उस पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक योग वर्गणा स्कंधका अन्य पौद्गलिक स्कंधसे संबंधरूप नहीं प्रवर्तना अथवा विपरीत उसी स्कंध कारणसे घाते छेदे जाना पौद्गलिक मोहका अरति स्वांग है। इस जीवके उपयोगों द्वारा देखते जानते अस्पर्श जीव निर्जीव स्कंध ज्ञेयसे अरुचि-रूप, अप्रतीतरूप, द्वेषरूप आदि रंजित होना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका अरति स्वांग होता है।

शोकः—पौद्गलिक योग वर्गणा अन्य स्कंध नाशने मुरझायेरूप-कुम्हलायेरूप बिलखनेरूप तथा कायके कम्पन आदिरूप, भ्रकुटीको ऊँची करना आदिरूप पौद्गलिक मोहका शोकस्वांग उत्पन्न होता है। जीव-अजीव समूर्त [illegible] ज्ञेयको यह जीव उपयोगों द्वारा देखता जानता है। तब उस अस्पर्श स्कंध वियोगभावरूप ज्ञेयोंसे [illegible] खेदरूप, दुःखरूप, संकल्प-विकल्परूप, संतापरूप आदि जो रजना (रंजितपना) वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका शोक स्वांग है।

तथा रजादि धातु विकार होते हैं। पुनः अन्य स्कंधोंको रमणकरानेका कारण होता है वह पौद्गलिक स्त्रीवेद स्वांग है। इस जीवके पुद्गल स्कंध ज्ञेयको उपयोग द्वारा देखते जानते हुए मंद मंद उन्मादरूप, उच्चाटन, अरति, तापन, मोहन, वशीकरण, लज्जा, मायारूप अथवा उस अन्यत्र ज्ञेय प्रति पुनः दिखाने, बतलाने, सेवन, रमण कराने आदि तृष्णारूप रंजना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका स्त्रीवेद नामक भेद है।

नपुंसकवेदः—तथा पौद्गलिक अखाड़ेमें पौद्गलिक पुरुषस्त्रीवेद मिश्रभावसे पौद्गलिक योगोंका परिणमित होना पौद्गलिक मोहका नपुंसकवेद स्वांग है। तब इस जीवके अमूर्तिक चेतन पुरुष स्त्रीवेद मिश्रभावसे चारित्रगुणका रंजना वह अमूर्तिक चेतन चारित्रमोहका नपुंसक वेद स्वांग है।

देखो भव्य! चेतन चारित्राचरण गुण परभावरूप अथवा मोहरूप हुआ इस प्रकार नाट्य करता है, वह (चेतन) उस पौद्गलिक मोहकर्म नाटकसे भिन्न ही है। वह उस पुद्गलको त्रिकालमें भी स्पर्श नहीं करता। ज्ञानदृष्टी उससे कुछ भी संबंध नहीं देखता है।

तथा उस पुद्गल अखाड़ेमें आयु नामककर्मका नाटक होता है। वह किस प्रकार है? वही कहते हैं—

जो पौद्गलिक स्कंध जीव प्रदेशसे अस्पर्श शरीर आदि पौद्गलिक वर्गणाओंका एक संबंधको स्थिति प्रमाण रख सकता है वह पौद्गलिक आयुकर्म स्वांग उत्पन्न हुआ

जीवके यद्यपि जीवद्रव्यमें गुणोंका निजजाति सकल स्वभाव शक्तिरूप अव्यक्त हो रहा है परन्तु उस गुण सकल स्वभावको जीवद्रव्य अपने परिणामरूप व्यक्तता प्रवाहमें[१] देनेको समर्थ नहीं हो सकता; तथा यह जीवद्रव्य षट गुणी-हानि वृद्धिसे एक समय भी स्थायी शुद्ध स्वरूपरूप पर्याय परिणामों द्वारा निज स्वभाव सुख[२] भोगनेको समर्थ नहीं हो सकता, तथा यह जीवद्रव्य निजजाति स्वभावके एक अद्वितीय स्वादको बारंबार सर्व उत्पाद परिणामोंकी परम्परा द्वारा[३] उपभोग नहीं कर सकता; तथा इस जीवद्रव्यके स्वाद-भाव भावशक्तिरूप अव्यक्त हो रहे हैं, जीवद्रव्यके परिणाम उस स्वभावका[४] लाभ प्राप्त नहीं कर सकते, तथा इस जीवद्रव्यका सकल निज जातिरूप स्वभाव सर्वथा प्रकार स्फुरणका प्रगट होनेका उस भावरूप रहनेका बल—[५]वीर्यगुण नहीं हो सकता, इस प्रकार जीवका उद्यम—बल—वीर्यगुण निर्बल (होकर) विपरीतभावरूप परिणमित हुआ है, उस रूप अमूर्तिक चेतन अंतराय स्वांग उत्पन्न होता है।

हे भव्य! तू देख! ज्ञानी इस प्रकारसे आठ भांतिका अमूर्तिक चेतन नाटक होता हुआ देखता जानता है। उस पौद्गलिक नाटकसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं देखता। क्यों? जो कुछ सम्बन्ध हो तो ज्ञानी देखें। परन्तु जो कुछ सम्बन्ध नहीं हो तो ज्ञानी कैसे देखे? (अर्थात् नहीं देखता है)।

तथा उस पौद्गलिक नाटक कर्म प्रकृतिके आने जानेके (सद्भाव-अभावके) भेदसे चौदह अखाड़े-स्थानक मुख्य बनते

१—दान गुण २—लाभगुण ३—भोग गुण ४—उपभोग गुण ५—वीर्य गुण

होगा। तथा तब ही उन निर्मल परिणामोंसे परिणमित होनेपर तेरे अशुद्ध परभाव हेय-नष्ट होते हैं। यह स्वभाव नमूना देखने जानने मय ही है। इस देखने जानने द्वारा अपना ज्ञान दर्शन देखा जाना। तथा उस देखने जाननेमें जीवको विश्राम आराम हुआ, स्वाद भोगा। जो कितनेक जीव परिणामोंको, निज स्वभावरूपका लक्षण करता है, वही जीवके स्वरूप स्वभावका नमूना है।

हे मित्र! सर्वका तात्पर्य यह है जहाँ—अपना अशुद्ध द्रव्य देखा और अशुद्धतासे भिन्न स्वयंको देखा, वहां निज स्वभावके स्वादका उद्योत अवश्य होता है। ऐसा होने पर तू ही जावेगा और अशुद्धताके नष्ट करनेको तूं ही उद्यम करेगा। तू इस प्रकार सदा देखा कर। 'अमूर्तिक चेतन-भावसंसारसे एक जीव व्याप्यव्यापक है' यह अधिकार समाप्त हुआ।

---

(३१) संसार-कर्तृत्व अधिकार वर्णन

कोई इस प्रकार प्रश्न करता है कि गुणस्थान, मार्गणा, कर्मयोग आदि संसार है। वह संसार किसके परिणाममय है? वह कहिए। वही कथन दिखाते हैं?

देखो एक चन्द्रमा आकाशमें है, एक उसका निमित्त प्राप्त होनेपर पानीकी स्वच्छताके विकाररूप चन्द्रमा है। तथा एक लाल रंग है और एक उसका निमित्त प्राप्त होवे पर स्फटिककी स्वच्छताके विकाररूप लाली है। तथा एक मयुर स्कंध है और एक उसका निमित्त प्राप्त होने

ये चन्द्रमादि वस्तु अंश परिणाममय हैं यह वस्तु ही है। तथा जलादि विकाररूप चन्द्रमादि नाश होते जलादि स्वच्छता परिणाम प्रत्यक्ष रह जाता है। अतः यह प्रत्यक्ष है कि जलादिकी स्वच्छता वस्तु है परन्तु उस चन्द्रमादिरूपके अनुसार जलादि स्वच्छता परिणामने भी स्वांगको चन्द्रमादि स्वांग बना लिया है। उन स्वच्छता परिणामोंने भी उन चन्द्रमादि वस्तुमयके रूपोंकी कूट (-आकार) बनाया है। परन्तु यह कूटकी कर्त्ता तो यह स्वच्छता वस्तु अंश परिणाममय है। तथा स्वच्छता परिणामों द्वारा रचित चन्द्रमादिरूप कूट है सो कूट स्वांगभाव हैं परन्तु वह कूट (स्वच्छता) परिणाम नहीं है; वह कूट तो परिणामोंका स्वांग है। निर्णय करनेसे निश्चय हुआ कि जलादिके स्वच्छता परिणामोंमें ही जो चन्द्रमादि स्वरूप बना है वह रूप अवस्तु है, अपरिणाम है। हे भव्य! निर्णय कर तो जैसीकी तैसी बात निश्चित होगी। वह तुमने देखो। अब उससे निःसंदेह जानना—

गुणस्थान, मार्गणा, कर्म, योग, बंध कषाय, बंध आस्रव, संयम, असंयम आदि जितना भी संसार वस्तु अंश परिणाममय है, वह सर्व केवल पौद्गलिक द्रव्यमय जानना। तथा भावसंसार होनेकी ऐसी विधि है, उसे तू सुन—

इस जीवके उपयोगरूपमय स्वच्छता परिणाम है उस परिणामोंमें देखने जाननेके स्वभावके कारण सर्व परज्ञेय दृश्यके आकार होते हैं। ऐसा वस्तुस्वभाव है, उपयोगकी सदा ऐसी रीति है। अतः इस एक जीवमें निश्चयसे पर

(३२) अनुभव वर्णन

इस पौद्गलिक कर्म द्वारा पांच इन्द्रिय छट्ठे मनरूप बने हुए संज्ञी देह, उस देहमें उसके प्रमाण जीवद्रव्य स्थित है उस जीवद्रव्यको भी इन्द्रियमन नामसे कहा जाता है। उसका नाम भावइन्द्रिय-भावमन है और वहां उपयोग परिणाममें भी छह प्रकार भेद हो रहा है। एक उपयोग परिणाम भेद पुद्गलके स्पर्शगुणको देखता जानता है, एक उपयोग परिणाम भेद पुद्गलके रसगुणको देखता जानता है, एक उपयोग परिणाम भेद पुद्गलके गंधगुणको देखता जानता है, एक उपयोग परिणाम भेद पुद्गलके वर्णगुणको देखता जानता है, एक उपयोग परिणामभेद पौद्गलिक शब्दस्कंधको देखता है जानता है और एक उपयोग परिणामभेद अतीत, अनागत, वर्तमान, मूर्तिक, अमूर्तिककी चिंता, विचार, स्मरणादि विकल्परूप देखता जानता है; इस प्रकार उपयोग परिणामभेद हो रहा है। तथा उपयोग परिणामके भेद जो पुद्गलके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ज्ञेयोंमें एक एकके बाद दूसरे दूसरेको देखने जाननेको एक एक उपयोग परिणाम भेद है। इस प्रकार राजा इन्द्र (राजा इन्द्रवत् आत्माके) उपयोगके भेद हो रहे हैं अतः उन उपयोग परिणाम भेदोंको इस भावसे इंद्रिय संज्ञा द्वारा कहा जाता है तथा उपयोग परिणामके विकल्प, विचार, चिंता-रूप मनन होता है, और उसके होनेसे उस उपयोग परिणाम भेदको मन संज्ञा द्वारा कहा जाता है।

अब इनको एक ज्ञानका नाम लेकर कथन करता हूं 'ज्ञान' कहनेसे दर्शनादि सर्व गुण समाविष्ट हो गये, अतः ज्ञानका कथन करता हूं—

भी देखता है, यह उस सम्यग्दृष्टिके मति श्रुतमें सम्यक्‌रूप है।

तथा यह सम्यक्त्वता सविकल्प निर्विकल्परूपसे दो प्रकार है। (१) जघन्य ज्ञानी जब उस परज्ञेयको अव्यापक पररूपत्व जानता है, आपको जाननरूप व्यापक जानता है वह सविकल्प सम्यक्त्वता है। (२) जाननरूप आप आपको ही व्याप्य-व्यापक जानता रहे, वह निर्विकल्प सम्यक्त्वता है। तथा युगपत् एक वार एक ही समयमें स्वको सर्वस्व कर सर्वथा देखता है और सर्व परज्ञेयोंको सर्वथा पररूप देखता है; तब चारित्र परम शुद्धरूप है। उस सम्यक्त्वको सर्वथा-परम सम्यक्त्वता कहा जाता है, वह केवलदर्शन ज्ञान-पर्यायमें पाया जाता है। तो इस मति श्रुति आदिकोंकी जाननदृष्टि युगपत् क्यों नहीं है, उसका क्या कारण है? उसका कारण तू सुन—

हे संत! मति श्रुत आदि ज्ञान प्रयुक्त होने रूप है। जिधर जिस ज्ञेय प्रति प्रयुक्त हों तब उस कालमें स्वज्ञेयको अथवा परज्ञेयको काकगोलक न्यायसे अथवा युगल नेत्रदृष्टि न्यायसे देखता है और उसका भी विवरण—

स्वज्ञेय अथवा परज्ञेयके प्रति प्रयुक्त होते हुए भी वे मति श्रुतज्ञानसे एक अंशका भेद जानते हैं, फिर वहांसे हटकर अन्य ज्ञेयभाव प्रति प्रयुक्त हों, तब उसको जानते हैं। उसके उदाहरण—जब जीव द्रव्यत्व जाननेको प्रयुक्त हो तब, द्रव्यत्व सामान्यको ही जानता है और जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भेदोंको जाननेके लिये प्रयुक्त हो तब उन भेदरूपोंको जानता है तथा उन भेदोंमें भी जब एक उत्पाद भावका

हे ज्ञाता पुरुष ! [illegible]

प्रकार पहचान करें ? तथा किस प्रकार उसकी सेवा करें ? तथा वह मुझे भी प्रभु कैसे करेगा ? मुझको यह बात बताओ। क्योंकि तूने भी इस अवस्थाको बिताया है अतः तुम यह मूल बात-यह भेद बताओ। तब उस ज्ञात पुरुषने कहा—

मैं तो यह बातकी बात कहूंगा, परन्तु तू इसी भांति उद्यमरूप होना। तू उद्यमरूप होगा क्योंकि तेरी तीव्र रुचि दिखाई देती है। तू वह उपाय सुन—

पुरुषने यह कथा सुनकर और उसी प्रकारकी रीति करनेसे वह स्वयं राजा भी बन गया। इति दृष्टान्तः। दार्ष्टान्त इस प्रकार है।

इस जीवके परिणाम हैं वह परिणाम अन्य परभावोंका अवलंबन, सेवा करते हैं। तब उन परभावोंका सेवन करते परिणाम उन परभावोंको निज स्वभावरूप देखते हैं, जानते हैं, सेवा करते हैं तथा उन परको निजस्वरूप रूप प्रतीति करते हैं। इसी इसी प्रकार अनादिसे करते हुए इस जीवके परिणामोंकी अवस्था बहुत काल तक व्यतीत हुई। फिर काल प्राप्त कर भव्यता परिपाक हुई, तब आप ही अथवा अन्य ज्ञात गुरुके उपदेशका कारण प्राप्त किया, उन गुरुने उपदेश दिया—

हे भव्य परिणामों! तुम पर–हीन की सेवा करते हो और हे परिणामों! परकी सेवा करते हुए इन नीच परको तुम उच्च–स्व मानकर देखते हो, जानते हो, और स्वरूपसे याद–ठीक रखते हो, परन्तु हे भव्य परिणामों! यह पर–नीच है, स्व–उच्चत्व नहीं है तथा यह तुम्हारा वस्तु आधार नहीं है। तथा इन नीचोंके सेवनसे तुम भी–पर नीच जैसे ही हो रहे हो, तथा इन पर–नीचोंकी सेवा करते-करते दुःख, उपाधि, दारिद्रय सदा पाते रहे हो। ये तुमको रंचमात्र भी कुछ दे सकते नहीं है। तथा तुम झूठे हो 'दे ही हमको देते हैं' ऐसे मान रहे हो। ये तो पर और नीच हैं परन्तु तुम इनको स्वउच्चत्व मानकर बहुत नीच हो गये हो।

परन्तु उसमें भी स्वभाव राजाका कोई लक्षण नहीं देखा। अतः उस अधर्म नगरको भी छोड़कर और आगे कालद्रव्य वर्तनाकारण गुण पर्यायादि लक्षणों द्वारा भिन्न देखा। परन्तु उसमें भी स्वभाव राजा कोई लक्षण नहीं देखा। अतः उस कालद्रव्यको भी छोड़कर आगे पुद्गल द्रव्य वर्णादि गुण पर्याय लक्षणों द्वारा भिन्न देखा। परन्तु उसमें भी स्वभाव राजाका कोई लक्षण नहीं देखा। अतः उस पुद्गल द्रव्यको भी छोड़ दिया।

इस प्रकार उन परिणामोंने ये पांच द्रव्य ता देखे परन्तु स्वभाव राजाका नाममात्र भी नहीं देखा अतः इनको छोड़ दिया। आगे ये जीव संज्ञा द्रव्यनगरके समीप आ पहुंचे। वहां इन परिणामोंने कोटरूप नोकर्म स्कंध देखा, वह सर्व निःसंदेह पुद्गल द्रव्यका बना हुआ देखा। उसमें तो स्वभावका कोई भी लक्षण नहीं है। अतः इस नोकर्मको छोड़कर उसके भीतर परिणाम आये। वहां आठ कर्म व नव तत्त्व देखे। कार्माण मण्डली स्कंधकी वस्ती है। उस बस्तीमें देखा तो केवल सर्व पुद्गल द्रव्यकी जाति निवास करती है और उन्हींका परस्पर लेना देना, संबंध सगाई, लड़ाई प्रीति क्रिया होती है। इस प्रकार उस बस्तीमें भी निःसंदेह स्वभावका कोई अंग नहीं देखा। अतः उस कर्मादि पुद्गल जाति बस्तीको छोड़कर ये परिणाम आगे गये। वहां देखा कि जैसे पीछे कर्मादि पुद्गल जातियोंके नाम [illegible] उन्हीं जातियोंके नामधारक चेतन परिणाम-[illegible] बस्ती है परन्तु वे मात्र (अशुद्धरूप भावकर्म)

देखते हैं, नहीं जानते हैं। इन परद्रव्योंको अब निःसंदेह उस चेतनराजाकी केवल ज्ञेय प्रजारूप जानते हैं।

तथा अब ये परिणाम इस परद्रव्यका ही अवलंबन करते हैं, परन्तु इन परिणामोंने उस चेतनस्वभावकी ज्ञाता-दृष्टा लक्षणमय मूर्तिकी प्रत्यक्ष शक्तिरूपसे आस्तिक्यता प्रत्यक्ष शक्तिरूपसे ठीकता अथवा शक्तिरूपसे याद कर रखी है। इन परिणामोंको यद्यपि इस वर्तमान कालमें चेतनस्वभाव-को अनुभवरूप प्रत्यक्ष देखते, जानते और सेवा नहीं करते; ये परिणाम इस कालमें उन परद्रव्य ज्ञेय प्रजाको देखते, जानते और सेवा करते हैं परन्तु उन परिणामोंको सदा उस चेतनस्वभावकी ज्ञाता-दृष्टामय मूर्ति शक्तिरूपसे साक्षात् तद्रूप याद रहती है।

जैसे किसी पुरुषने कोई ग्रन्थ याद कर रखा है और अब वर्तमानकालमें उस ग्रन्थपाठको देखता, जानता, रटता और पढ़ता नहीं है; या तो सोता है, या खेलता है, या प्रमादी हुआ है, या अन्य ग्रन्थ रटता है, पढ़ता है या खानपान, गमन, हसना, स्नान, दान आदि क्रिया करता है। कोई जानेगा कि इस पुरुषने बहुत ग्रंथ याद किये हैं, वह ग्रन्थ इस कालमें इस पुरुषके ज्ञानमें नहीं है, इस पुरुषसे सर्वथा नास्ति हो गये हैं। हे भाई! इस प्रकार तो नहीं है। यह पुरुष अन्य दान आदि क्रियाको करता, प्रवर्तता और अभ्यास करता है परन्तु वह ग्रन्थकी धारणा शक्तिरूपसे, ठीक प्रकारसे विद्यमान है और उसके जाननेमें है। वह ग्रन्थकी धारणा उस पुरुषके कभी भी नास्ति नहीं

हो-होकर उस स्वभावरूपमें विश्राम सेवामें लगने लगे। इसी प्रकार होते होते जब इस जीवद्रव्यके सब चारित्र-परिणाम स्वभावरूप विश्राम स्थिरता रूप हुए, ज्ञान-दर्शनादि सर्व परिणाम एक केवल निजस्वरूप रूप हुए. यहाँ तात्पर्य यह है कि—यह सर्व परिणाम सर्वथा स्वभाव-रूपक, कूटस्थ सिद्ध हो गये। तभी इस स्वभावराजाकी प्रत्यक्ष जानने-देखनेकी दोनों शक्तियाँ सर्व ज्ञेय लोकालोक प्रजा पर प्रवृर्त गई। अनंत बल—वीर्य, अनंत परम सुख समूहवंत हुए, परम प्रभु हुए। उसकी अवस्था कथनातीत है अतः इतना जानना कि ये परिणाम तब परिणामस्वरूप ऋद्धि, प्रभु, नित्यपदको प्राप्त हुए।

हे संत! इस कथनमें एक तो बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा इन परिणामोंकी अवस्था जाननी और दूसरे अंतरात्माकी अवस्थामें ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्वाचरण, चारित्राचरणकी रीति कही है। अपने परिणामसे तुलना करके देखनेके लिये यह उपदेश दिया है।

इति दृष्टांत पूर्वक स्वरूप व्याख्यान।

होना तथा उनमें तृष्णा रहित होना और अपने स्वभावमें शोभित स्थिरता होना ऐसो तपस्या ही तप है।

(भावनाका लक्षण)

यत् निजस्वभावस्य अनुभावनं तदेव (सैव) भावना ॥ ४ ॥

अर्थ—अपने स्वभावका बारंबार चिन्तन करना ही भावना है।

(व्रतका लक्षण)

यत् इन्द्रियमनभोगादिभ्यः संवरणं परिणामानां तत् व्रतम् ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय, मन और भोगादिकोंकी तरफ जानेसे अपने परिणामोंका रुकना व्रत है।

(दयाका लक्षण)

यत् निजस्वस्वभावं विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभावं पालयति तदेव (सैवे) दया ॥ ६ ॥

अर्थ—विकारमय परिणामों द्वारा अपने निजस्वभावका घात नहीं करना तथा अपने स्वभावका पालन करना हो दया है।

(यति और श्रावकका लक्षण)

सर्व इन्द्रियभोगेभ्यः देहादिपरिग्रह ममत्वत्यजनंतत् (स) यतिः। किंचित् त्यजनं श्रावकः ॥ ७ ॥

अर्थ—समस्त इन्द्रियोंके भोगोंसे और शरीरादि परिग्रहसे सर्वथा ममता रहित होना यतिका लक्षण है। इनमें एकदेश ममत्वका त्याग होना श्रावकका लक्षण है।

(वैराग्यका लक्षण)

रागद्वेषखेदरहितं उदासीनभाव ज्ञानसहितं तत् वैराग्यम् ॥८॥

अर्थ—राग, द्वेष, खेद रहित ज्ञानसहित उदासीनभाव होना वैराग्य है।

(धर्मका लक्षण)

निजवस्तुस्वभावो धर्मः तदेव (स एव) धर्म्मः ॥ ९ ॥

अर्थ—वस्तुका निजस्वभाव ही धर्म है। अतः उसही को धर्म कहते हैं।

(शुद्धका लक्षण)

रागादिविकाररहितो शुद्धः ॥ १० ॥ इत्यादि निश्चयाः चेतनजा ॥

अर्थ—रागादि विकार रहित ही शुद्धका लक्षण है। इत्यादिको चेतनजन्य निश्चय करना।

इति छद्मस्थीकी परमात्मलाभकी सकल रीति इतनी

अथ जीवभाव वचनिका

[लब्धि और उपयोगरूप मति-श्रुतज्ञानको भावेन्द्रिय कहा है जो क्षायोपशमिकज्ञान है]

क्षयोपशममें पांच इन्द्रिय पुद्गलके जो आकार बने हैं, उन आकार स्थानोंमें जीवके जो-जो क्षायोपशमिक चेतन परिणाम किस भाँति प्रवर्तित होता है—कि जैसी-जैसी पुद्गलकी इन्द्रियाँ नाम धारण करती हैं तैसे ही इन्द्रियोंका

भोगको प्रगट जानता–देखता है, उसको सुख–दुःख वेदन कहा जाता है। तथा जब मति, श्रुतस्वरूपके अनुभव रूप होते हैं तव उस समय "यह मैं चेतन व्याप्य–व्यापक वस्तु" इस प्रकार प्रत्यक्ष, प्रगट जानने देखनेरूप मति श्रुति उपयोग-भाव है, वह अनुभव निःसन्देह प्रत्यक्ष है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। तथा केवलज्ञान, केवलदर्शनादि होने पर उस केवलज्ञान-दर्शनको सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। तथा अवधि मनःपर्यय-ज्ञान किंचित् किंचित् ज्ञेयोको प्रगट जानते देखते हैं उन्हें देशप्रत्यक्ष कहा जाता है। चारित्रप्रत्यक्ष यथास्थान जानने।

[अथ छद्मस्थिनां परमात्मप्राप्तेः सफलारीतिः एतावन् एकांतेव अस्ति]

हे छद्मस्थ! यहाँ एक तात्पर्यकी वात सुनो—उस वातके करनेपर वहुत लाभ अपने आप सिद्ध होता है। तेरे लिये कार्यकारी (सुधारनेवाली) वात इतनी ही है, अव वह क्या?

प्रथम दृष्टांत—जैसे शीशा और उज्वलताका एक तादात्म्य व्याप्य-व्यापक है—एक व्याप्य-व्यापक ही है। वह शीशा निर्मल स्वच्छताका मात्र एक पिंड वना हुआ है। उस पिंड वननेमें अन्य कुछ भी मिला हुआ नहीं है, एक मात्र स्वच्छताका पिंड शीशा वना है। वह तो तादात्म्य व्याप्य-व्यापक अंग है तथा वह उसकी पैनी—अत्यंत उज्वल स्वच्छता प्रतिबिंबाकाररूप होती है वह व्याप्यव्यापक अंग जानना अतः शीशेको तादात्म्य व्याप्यव्यापक अंगसे देखनेपर एक स्वच्छताका ही पिंड है, उसकी अपेक्षासे उसमें अन्य कुछ

भी नहीं है और उस स्वच्छताका भाव जैसे है वैसा होता है। इति।

उसीप्रकार चेतन परिणाम! तुम देखो, तादात्म्य व्याप्यव्यापकरूपसे तो शुद्ध एकमात्र चेतना वस्तुहीका पिंड बना हुआ है; उस पिंड बननेमें तो अन्य शुद्ध अशुद्ध, संसार-मुक्ति, भेद–अभेद, निश्चय-व्यवहार, नय, निक्षेपादि, ज्ञेयाकार प्रतिभासादि समस्त भावोंका रंचमात्र कुछ भी भाव नहीं मिला है; अनादिसे शुद्ध चेतनवस्तु पिंड बना है। तथा उन चेतन परिणामरूपोंमें तुम शुद्ध-अशुद्ध, संसार-मुक्ति, भेद-अभेद, निश्चय-व्यवहारादि, ज्ञेयाकार प्रतिभासादि-भाव सबहीके रूप होते हो, व्याप्यव्यापकरूप हुए हो। यदि तुम इसीप्रकार तादात्म्य व्याप्यव्यापकरूप होते तो—

हे छद्मस्थ परिणामों! जो परिणाम व्याप्यव्यापक भावमें अभ्यासरूप प्रवर्तन करोगे तो यद्यपि तुम एक वस्तु, वस्तुकारूप हो तथापि छद्मस्थ परिणामों! तुम विकल्प-जालमें पड़ जाओगे, तब तुम उनमें क्लेश पाओगे। तुम्हारी शक्ति इतनी तो है नहीं कि उस विकल्पजालको संपूर्ण प्रत्यक्ष साध सको अतः इससे तुम्हारा परमात्म लाभ कार्य साधन नहीं होगा। तुमको अपना परमात्म कार्य साधवेकी इच्छा है, अतः तुम इसरूप इतना ही प्रवर्तना, अनुभव करो साधन करो कि इस 'अपने तादात्म्यरूपको प्रत्यक्ष देखो, जानो और स्थिर रहो। इतनी ही रीति तुम्हें परमात्मरूप होनेको कार्यकारी है। अन्य कोई विकल्प-जाल कार्यकारी नहीं हैं। छद्मस्थ परिणामों! यह निःशंक (निर्भय) होकर जानना

अतः तुम इस प्रकारसे उद्यमवंत रहना। तुम परमात्मलाभको सकल रीति नि.संदेह यही जानना।

[इति छद्मस्थीकी परमात्मलाभकी सकल रीति इतनी]

[इति जीवभाव वचनिका संपूर्णम्]

अथ आत्मवलोकन स्तोत्र

गुणगुणकी सुभाव विभावता, लखियो दृष्टि निहार ।
पै आन आनमै न मेलियो, होसी ज्ञान विथार ॥ १ ॥

अर्थ–प्रत्येक गुणका स्वभाव और विभाव दृष्टि प्रसार कर देखता, परन्तु अन्यको अन्यमें न मिलाना, तुम्हारा ज्ञान निर्मल विस्तृत होगा।

सव रहस्य या ग्रन्थको, निरखो चित्त देय मित ।
चरनस्यौं जिय मलिन होय, चरनस्यौं पवित्त ॥ २ ॥

अर्थ–हे मित्र ! इस ग्रन्थका रहस्य चित्त लगाकर समझना। जीव आचरणचारित्रसे ही मलिन होता है और आचरणचारित्रसे ही पवित्र होता है।

चरन उलटैं प्रभु समल, सुलटै चरन सव निर्मल होति ।
उलट चरन संसार है, सुलट परम की ज्योति ॥ ३ ॥

अर्थ–चारित्र उलटा (मिथ्या) होनेसे प्रभु (जीव) मलिन होता है, चारित्र सुलटा–सम्यक् होनेसे सव निर्मल हो जाते हैं। मिथ्याचारित्र संसार है और सम्यक्चारित्र परमज्योति अर्थात् मोक्ष है।

वस्तु सिद्ध ज्यौं चरन सिद्ध है, चरन सिद्धिसो वस्तुकी सिद्धि।
समल चरण तव रंकसा, चरन शुद्ध अनंती ऋद्धि ॥ ४ ॥

अर्थ—वस्तुकी सिद्धिसे चारित्र सिद्ध है, चारित्रकी सिद्धिसे वस्तुकी सिद्धि है [वस्तुके आश्रयसे ही चारित्र परिणाम होता है, और चारित्रपरिणाम विना वस्तुका स्वाद नहीं आता], जब मलिन चारित्र है, तब रंकवत है और चारित्र शुद्ध होने पर अनंत ऋद्धि वाला है।

इन चरन परके वसि कियौ, जियको संसार ।
सौ निज घर तिष्ठ कर, करै जगत स्यौं पार ॥ ५ ॥

अर्थ—परवश आचरणसे जीवको संसार होता है फिर निजघरमें स्थित होकर जगतसे पार होता है।

व्यापकको निश्चय कहौ, अव्यापककौ व्यवहार ।
व्याप अव्यापकके फेरस्यौ, भया एक, द्वय प्रकार ॥ १ ॥

अर्थ—व्यापकको निश्चय कहते हैं और अव्यापकको व्यवहार कहते हैं। व्यापक-अव्यापकके भेदसे एक दो प्रकार हो जाता है।

स्वप्रकास निश्चय कहा, पर प्रकाशक व्यवहार ।
सो व्यापक अव्यापक भावस्यौ, तातें वानी अगम अपार ॥ २ ॥

अर्थ—स्वप्रकाशकको निश्चय कहते हैं और परप्रकाशकको व्यवहार कहते हैं, वह व्यापक, अव्यापक भावके भेदसे कहते हैं। अतः जिनवाणी अगम और अपार है।

सबमें देखो आपनी व्यापकता, इस जिय थलस्यौं सदीस ।
तातें निज हूं [illegible], रहै सहज [illegible] ॥ ३ ॥

अर्थ–एक दृष्टिसे देखने पर जीव निजस्थानसे त्रिकाल व्यापक है। अतः मैं लोकसे भले प्रकार भिन्न सहज भावसे रहता हूं ॥ ३ ॥

छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान, दर्शनादि, इन्द्रियमन सहित और इन्द्रियमन अतीतका किंचित् विवरण—

दोहा

बुद्धि अबुद्धि करि दुधा, वढ़ै छदमस्तो धार।
इनको नास परमात्म हुवन, भव जल समुद्रके पार ॥ १ ॥

अर्थ–छद्मस्थ जीवमें बुद्धि–अबुद्धि दो प्रकारसे परिणामोंकी धारा प्रवाहित होती है। भवजल समुद्रके पार परमात्मा होनेके लिये इनको नष्ट कर।

सोरठा

जे अबुद्धिरूप परिनाम, ते देखै जानै नहीं।
तिनकौं सर्व साबरन काम, कैसे देखै जानै वपु रे ॥ २ ॥

अर्थ–जो अबुद्धिरूप परिणाम हैं, वे देखते-जानते नहीं हैं। उनका सर्व कार्य आवरण सहित होनेसे स्वयं कैसे देख जान सकते हैं?

पुनः

जु बुद्धरूपी धार, सो जथा जोग जानै देखै सदा।
वे क्षयोपशम आकार, तातें देखै जानै आप ही ॥ ३ ॥

अर्थ–बुद्धिरूपी धारा सदा यथायोग्य जानती-देखती है। वह धारा क्षयोपशम आकाररूप होनेसे स्वयं ही देखती-जानती है।

पुनः

बुद्धि परनति षट्भेद, भए एक जीव परनामके ।
फरस, रस, घ्राणेव, श्रोत, चक्षु, मन छठमा ॥ ४ ॥

अर्थ—एक जीव परिणामकी बुद्धि परिणतिके छह भेद । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, और मन ।

दोहा

भिन्न-भिन्न ज्ञेयहि उपर, भए भिन्न थानके ईश ।
तातें इनको इन्द्र पद, धरयो वीर जगदीस ॥ ५ ॥

(उपयोगके पांच इन्द्रिय भेद) भिन्न भिन्न ज्ञेयों पर भिन्न-भिन्न स्थान (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द)के ईश हुए [जानते हैं अतः ईश कहलाते हैं], अतएव तीन लोकके ईश वीर जिनेन्द्रने इनको इन्द्रपद नाम दिया ।

पुनः

ज्ञेयहि लक्षन भेदकौ, मानइ चितइ जो ज्ञान ।
ताकौं मन चित संज्ञा धरी, लखियो चतुर सुजान ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञान, लक्षण भेदरूपसे ज्ञेयोंका मनन, चिंतन करता है, उसको मन अथवा चित्त संज्ञा दी गई । हे चतुर ज्ञानी पुरुषों देखो ।

पुनः

ज्ञान दर्शन धारा, मन इन्द्री पद इम होत ।
भी इन नाम उपचारसे, कहे देह अंगके गोत ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शनधाराको इस प्रकार मन इन्द्रय पद प्राप्त हुआ । फिर देहके अंगोंको ये ही नाम उपचारसे कहे गये ।

पुनः

यहु वुद्धि मिथ्याती जीवकै, होई क्षयोपशमरूप ।
पै स्वपर भेद लखै नहीं, तातैं निज रवि देखन धूप ॥ ८ ॥

अर्थ–मिथ्यात्वी जीवके यह बुद्धि क्षयोपशमरूप होत है परन्तु स्वपरका भेद नहीं देखती है अतः निज ज्ञानसूर्य और उसके प्रकाशको नहीं देख पाता ।

पुनः

सम्यग्दृष्टि जीवके, वुध धार सम्यग् सदीव ।
स्वपर जानै भेदस्यौं रहे, भिन्न ज्ञायक सुकीव ॥ ९ ॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीवकी बुद्धि धारा सदा ही सम्यक् होती है। स्वपर भेद जाननेसे भले प्रकार भिन्न ज्ञायक ही रहता है।

चौपाई

मन इन्द्री तव ही लौं भाव, भिन्न-भिन्न साधै ज्ञेयकौं ठाव ।
सव मिलि साधै जव इकरूप, तव सव इंद्रीका नहीं रूप ॥ १० ॥

अर्थ–जव तक (उपयोगके भेद) भिन्न भिन्न ज्ञेय-स्थानका साधन करते हैं, तव तक ही मन इन्द्रिय भाव है जव सर्व उपयोग एक स्वरूपका साधन करता है तव उसका मन–इन्द्रियरूप नहीं रहता।

इक पद साधनकौं किय मेल, तव मन इंद्रीका नहीं खेल ॥
तातैं मव इन्द्री भेद पद नाम, है अतीन्द्री एकमेक परवाम ॥

अर्थ–एक (स्व) पद साधनेको जव उपयोगके भेद मिल गये (उपयोग सर्व ओरसे हटकर एकरूप अभेद

अथ चारित्र—

हूं तिष्ठ रह्यो हूं ही विषै, जब इन परसे कैसा मेल ।
राजा उठि अंदर गयो, तब इस सभासे कैसो खेल ।। ७ ।।

अर्थ—मैं मुझमें ही ठहरा हूँ, तब इस परसे मेरा संबंध कैसा ? जब राजा उठकर अंदर गया, तब सभाका नाटककैसा ?

प्रभुता निजघर रहे, दुःख नीचता परके गेह ।
यह प्रत्यक्ष रीति विचारिकै, रहिये निज चेतन गेह ।। ८ ।।

अर्थ—अपने घरमें प्रभुता रहती है और परके घर दुःख और नीचता रहती रहती है। यह प्रत्यक्ष रीति विचार कर निजचेतन गृहमें रहना चाहिये।

पर अवलंबन दुःख है, स्व अवलंबन सुखरूप ।
यह प्रगट लखाव पहचानके, अवलंबियो सुख कूप ।। ९ ।।

अर्थ—पर अवलंबन दुःखरूप है और स्व अवलंबन सुखरूप है! यह प्रगट देखकर और लक्षणसे पहिचानकर सुख कूप (स्रोत) का अवलंबन करना चाहिये।

यावत तृष्णारूप है, तावत मिथ्या-भ्रम-जाल ।
ऐसी रीति पिछानिकै, लहियै सम्यग् विरति चाल ।। १० ।।

अर्थ—जब तक तृष्णारूप है तब तक मिथ्या भ्रमजाल है। ऐसी रीति पहचानकर सम्यक् विरति ग्रहण करना चाहिये।

परके परिचय भ्रम है, निज परिचय सुख चैन ।
यह परमारथ जिन कह्यो उस हितकी करी जु सैन ।। ११ ।।

अर्थ—परके परिचयसे आकुलता है और निजके परिचयसे सुख-चैन (शान्ति) है। जिनेन्द्रदेवने यह परमार्थ

कह कर उस हितका संकेत किया है।

इस धातुमयी पिंडमयी रहूं हूं अमूरति चेतन विम्ब।
ताके देखत सेवतैं रहे पंचपद प्रतिविम्ब ॥ १२ ॥

अर्थ—इस धातुमयी पिंडमें मैं अमूर्तिक चेतन विम्ब रहता हूं। उसके देखने और सेवन करनेमें पाचों परमपद प्रतिविंवित होते हैं।

तव लग पंचपद सेवना, जव लग निजपदकी नहीं सेव।
भई निजपदकी सेवना, तव आपै आप पंच पद देव ॥ १३ ॥

अर्थ—तव तक पंचपरमेष्ठीकी सेवा करता है जब तक निजपदको सेवा नहीं है। निजपदकी सेवा होते ही स्वयं पंचपरमेष्ठी देव है।

पंच पद विचारत ध्यावतैं, निजपदकी शुद्धि होत।
निजपद शुद्धि होवतैं निजपद भवजल तारण पोत ॥ १४ ॥

अर्थ पांच पदोंको विचारने और ध्यान करने पर निजपदकी शुद्धि होती है। निजपदकी शुद्धि होने पर निज-पद भव जलसे पार होनेके लिये जहाज है।

हूं ज्ञाता दृष्टा सदा, हूं पंचपद त्रिभुवन सार।
हूं ब्रह्म ईश जगदीशपद, सो हूं के परचैं हूं पार ॥ १५ ॥

अर्थ—मैं सदा ज्ञाता हूं, दृष्टा मैं तीनलोकमें सार पंचपद (परमेष्ठी) हूं। मैं ब्रह्मा ईश्वर और जगदीश स्वरूप हूं। सोहंका परिचय होते ही भवोदधिसे पार होता है।

इति श्री आत्मावलोकन ग्रंथ संपूर्णम्

—: शुद्धिपत्र :—

पृ.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	है;	है
"	२	होता,	होता
"	"	भेदद्वारा	नष्ट करके
५	३	जड	जड-
"	१६	गुणा	गुंण
३३	अंतिम	म्बन्ध सहोने	सम्बन्ध होने
४०	"	व्याप्य	व्याप्य
४६	"	सम्बन्म	सम्बन्ध
५४	७	सवर	संवर
६८	१८	सम्यग्मा	(२५) सम्यग्मा
७१	२	चेतना	अनादिसे चेतना
७३	३	उसो	उसी
"	११	सम्यत्व	सम्यक्त्व
८४	७	सज्ञा	संज्ञा
८६	१	इन्द्रिय	कायइन्द्रियके
८७	२	समान	सामान्य
८८	४	ठहकर	ठहरकर
९७	६	जीवी	जीवों
९८	९	अश	अंश
११२	११	उद्यम करेगा	उद्यत होगा (उद्यम करेगा
१२३	२२	किया	विकथा
१४२	१४	(सेये)	(सेव)
१५०	२०	वर्दन	दंसन

अथ चारित्र—

हूं तिष्ठ रह्यो हूं ही विषै, जब इन परसे कैसा मेल ।
राजा उठि अंदर गयो, तब इस सभासे कैसो खेल ।। ७ ।।

अर्थ—मैं मुझमें ही ठहरा हूँ, तब इस परसे मेरा संबंध कैसा ? जब राजा उठकर अंदर गया, तब सभाका नाटककैसा ?

प्रभुता निजघर रहे. दु:ख नीचता परके गेह ।
यह प्रत्यक्ष रीति विचारिकै, रहिये निज चेतन गेह ।। ८ ।।

अर्थ—अपने घरमें प्रभुता रहती है और परके घर दु:ख और नीचता रहती रहती है। यह प्रत्यक्ष रीति विचार कर निजचेतन गृहमें रहना चाहिये।

पर अवलंबन दु:ख है, स्व अवलंबन सुखरूप ।
यह प्रगट लखाव पहचानके, अवलंबियो सुख कूप ।। ९ ।।

अर्थ—पर अवलंबन दु:खरूप है और स्व अवलंबन सुखरूप है। यह प्रगट देखकर और लक्षणसे पहिचानकर सुख कूप (स्रोत) का अवलंबन करना चाहिये।

यावत तृष्णारूप है, तावत मिथ्या–भ्रम–जाल ।
ऐसी रीति पिछानिकै, लहियै सम्यग् विरति चाल ।। १० ।।

अर्थ—जब तक तृष्णारूप है तब तक मिथ्या भ्रमजाल है। ऐसी रीति पहचानकर सम्यक् विरति ग्रहण करना चाहिये।

परके परिचय भ्रम है, निज परिचय सुख चैन ।
यह परमारथ जिन कह्यो. उस हितकी करी जु सैन ।। ११ ।।

अर्थ—परके परिचयसे आकुलता है और निजके परिचयसे सुख–चैन (शान्ति) है। जिनेन्द्रदेवने यह परमार्थ

कह कर उस हितका संकेत किया है।

इस धातुमयी पिंडमयी रहूं हूं अमूरति चेतन विम्ब ।
ताके देखत सेवतैं रहे पंचपद प्रतिविम्ब ।। १२ ।।

अर्थ—इस धातुमयी पिंडमें मैं अमूर्तिक चेतन विम्ब रहता हूं। उसके देखने और सेवन करनेमें पाचों परमपद प्रतिबिंबित होते हैं।

तव लग पंचपद सेवना, जव लग निजपदकी नहीं सेव ।
भई निजपदकी सेवना, तव आपै आप पंच पद देव ।। १३ ।।

अर्थ—तव तक पंचपरमेष्ठीकी सेवा करता है जब तक निजपदको सेवा नहीं है। निजपदकी सेवा होते ही स्वयं पंचपरमेष्ठी देव है।

पंच पद विचारत ध्यावतैं, निजपदकी शुद्धि होत ।
निजपद शुद्धि होवतैं निजपद भवजल तारण पोत ।। १४ ।।

अर्थ पांच पदोंको विचारने और ध्यान करने पर निजपदकी शुद्धि होती है। निजपदकी शुद्धि होने पर निज-पद भव जलसे पार होनेके लिये जहाज है।

हूं ज्ञाता दृष्टा सदा, हूं पंचपद त्रिभुवन सार ।
हूं ब्रह्म ईश जगदीशपद, सो हूं के परचैं हूं पार ।। १५ ।।

अर्थ—मैं सदा ज्ञाता हूं, दृष्टा मैं तीनलोकमें सार पंचपद (परमेष्ठी) हूं। मैं ब्रह्मा ईश्वर और जगदीश स्वरूप हूं। सोहंका परिचय होते ही भवोदधिसे पार होता है।

इति श्री आत्मावलोकन ग्रंथ संपूर्णम्

हुआ) तब मन इन्द्रियका खेल—नाटक नष्ट हो गया। अतः मन इन्द्रिय उपयोगके भेदके नाम हैं। अतीन्द्रिय परिणाम तो एक अभेद परिणाम है।

स्व अनुभव छन विषैं, मिलै सब बुद्धि परनाम।
तातैं स्व अनुभव अतींद्री, भयौ छद्मस्तीको नाम ॥ १२ ॥

अर्थ—स्व अनुभव क्षणमें सब बुद्धि परिणाम मिलकर प्रवर्तते हैं अतः स्व अनुभवका नाम छद्मस्थके अतीन्द्रिय कहलाता है।

जा विधितैं मन इन्द्रिय होत, ता विधिस्यौं भए अभाव।
तब तिन ही परनाम को, मन इन्द्री पद कहा बताव ॥ १३ ॥

अर्थ—मन और इन्द्रिय इस विधिसे (उपयोग भेदसे) होते हैं और उस विधिसे (अभेद उपयोगसे) भेद, अभाव हुए, तब उन परिणामोंको मन इन्द्रिय पद कैसा ?

सम्यग् बुद्धि परवाह, क्षणरूप मझ क्षन रूप तट।
पैं रूप छांडि न जाह, यहु सम्यक्त्वताकी माहातमा ॥ १४ ॥ इति

अर्थ—सम्यक्ज्ञान प्रवाहका क्षणरूप मध्य (निर्विकल्प) होता है और क्षणरूप तट (सविकल्प) होता है परन्तु रूप छोड़कर नहीं जाता, यह सम्यक्त्वका माहात्म्य है।

अनुभव दोहा—

हूँ चेतन हूँ ज्ञान, हूँ दर्शन सुख भोगता।
हूँ अर्हन्त सिद्ध महान, हूँ हूँ ही हूँ को पोषता ॥ १ ॥

अर्थ—मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं सुखका भोक्ता हूँ, मैं अर्हन्त-सिद्ध महान हूँ, मैं मैंही का पोषक हूँ।

जैसे फटिकके बिंबमें, रह्यो समाय जोतिको खंध ।
पृथक् मूर्ति प्रकाशकी, बंधी प्रत्यक्ष फटिकके मंध ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकके बिंबमें दीप ज्योतिका स्कंध समा रहा है परन्तु स्फटिकमें प्रकाशकी प्रत्यक्ष भिन्न मूर्ति है।

तैसे यह कर्म स्कंधमें समाय रहा हूं चेतन दर्व ।
पै पृथक् मूर्ति चेतनमई, बंधी त्रिकालगत सर्व ॥ ३ ॥

अर्थ—उसी प्रकार इस कर्म स्कंधमें मैं चेतन द्रव्य समा रहा हूं परन्तु तीनोंकाल सर्वज्ञ स्वभावी चेतवमयी मूर्ति पृथक् रहती है।

नख शिख तक इस देहमें निवसत हूं मैं चेतनरूप ।
जिस क्षण हूं हूं ही कौं लखूं, ता क्षण मैं हौं चेतनभूप ॥

अर्थ—नखसे लेकर शिखा तक इस शरीरमें मैं चेतन-रूप पुरुष निवास करता हूं। जिस क्षण मैं मुझको ही देखता हूं उसीक्षण मैं चैतन्यराजा हूं।

इस ही पुद्गल पिन्डमें, वहै जो देखन जानन धार ।
यह मैं यह मैं मैं यह जो कुछ देखन जानन हार ॥ ५ ॥

अर्थ—इस ही पुद्गल पिंडमें वह जो देखने जाननेवाला है, वह देखने जाननेवाला जो कुछ है वही मैं हूं, वही मैं हूं।

यह मैं, यह मैं, मैं यही, घट बीच देखत जानत भाव ।
वही मैं वही मैं मैं वही, यह देखन जानन ठाव ॥ ६ ॥

अर्थ—अंतरमें जो देखने-जाननेवाला भाव है, वही मैं हूं, वही मैं हूं, मैं ही हूं। यह दर्शक-ज्ञायक स्थान (पिंड) निश्चय ही मैं हूं, निश्चय ही मैं हूं, निश्चय ही मैं हूं।

पुनः

यहु बुद्धि मिथ्याती जीवकै, होई क्षयोपशमरूप ।
पै स्वपर भेद लखै नहीं, तातैं निज रवि देखन धूप ॥ ८ ॥

अर्थ–मिथ्यात्वी जीवके यह बुद्धि क्षयोपशमरूप होत है परन्तु स्वपरका भेद नहीं देखती है अतः निज ज्ञानसूर्य और उसके प्रकाशको नहीं देख पाता।

पुनः

सम्यग्दृष्टि जीवके, बुध धार सम्यग् सदीव ।
स्वपर जानै भेदस्यौं रहे, भिन्न ज्ञायक सुकीव ॥ ९ ॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीवकी बुद्धि धारा सदा ही सम्यक् होती है। स्वपर भेद जाननेसे भले प्रकार भिन्न ज्ञायक ही रहता है।

चौपाई

मन इन्द्री तव ही लौं भाव, भिन्न-भिन्न साधै ज्ञेयकौं ठाव ।
सव मिलि साधै जव इकरूप, तव सव इंद्रीका नहीं रूप ॥ १० ॥

अर्थ–जव तक (उपयोगके भेद) भिन्न भिन्न ज्ञेय-स्थानका साधन करते हैं, तव तक ही मन इन्द्रिय भाव है जव सर्व उपयोग एक स्वरूपका साधन करता है तव उसका मन–इन्द्रियरूप नहीं रहता।

एक पद साधनकौं किय मेल, तव मन इंद्रीका नहीं खेल ॥
तातैं मन इन्द्री भेद पद नाम, है अतीन्द्री एकमेक परवाम ॥

अर्थ–एक (स्व) पद साधनेको जव उपयोगके भेद मिल गये (उपयोग सर्व ओरसे हटकर एकरूप अभेद

हुआ) तब मन इन्द्रियका खेल–नाटक नष्ट हो गया। अतः मन इन्द्रिय उपयोगके भेदके नाम हैं। अतीन्द्रिय परिणाम तो एक अभेद परिणाम है।

स्व अनुभव छन विपैं, मिले सब बुद्धि परनाम।
तातैं स्व अनुभव अतींद्री, भयाे छद्मस्तीको नाम ॥ १२ ॥

अर्थ–स्व अनुभव क्षणमें सब बुद्धि परिणाम मिलकर प्रवर्तते हैं अतः स्व अनुभवका नाम छद्मस्थके अतीन्द्रिय कहलाता है।

जा विधितैं मन इन्द्रिय होत, ता विधिस्यौं भए अभाव।
तब तिन ही परनाम कौ, मन इन्द्री पद कहा बताव ॥ १३ ॥

अर्थ–मन और इन्द्रिय इस विधिसे (उपयोग भेदसे) होते हैं और उस विधिसे (अभेद उपयोगसे) भेद, अभाव हुए, तब उन परिणामोंको मन इन्द्रिय पद कैसा ?

सम्यग् बुद्धि परवाह, क्षणरूप मझ क्षन रूप तट।
पैं रूप छांडि न जाह, यहु सम्यक्त्वताकी माहातमा ॥१४॥ इति

अर्थ–सम्यक्ज्ञान प्रवाहका क्षणरूप मध्य (निर्विकल्प) होता है और क्षणरूप तट (सविकल्प) होता है परन्तु रूप छोड़कर नहीं जाता, यह सम्यक्त्वका माहात्म्य है।

अनुभव दोहा—

हूँ चेतन हूँ ज्ञान, हूँ दर्शन सुख भोगता।
हूँ अर्हन्त सिद्ध महान, हूँ हूँ ही हूँ को पोषता ॥ १ ॥

अर्थ–मैं चेतन हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, मैं सुखका भोक्ता हूँ, मैं अर्हन्त-सिद्ध महान हूँ, मैं मैंही का पोषक हूँ।

जैसे फटिकके बिंबमें, रह्यो समाय जोतिको खंध ।
पृथक् मूर्ति प्रकाशकी, बंधी प्रत्यक्ष फटिकके मंध ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकके बिंबमें दीप ज्योतिका स्कंध समा रहा है परन्तु स्फटिकमें प्रकाशकी प्रत्यक्ष भिन्न मूर्ति है।

तैसे यह कर्म स्कंधमें समाय रहा हूं चेतन दर्व ।
पै पृथक् मूर्ति चेतनमई, बंधी त्रिकालगत सर्व ॥ ३ ॥

अर्थ—उसी प्रकार इस कर्म स्कंधमें मैं चेतन द्रव्य समा रहा हूं परन्तु तीनोंकाल सर्वज्ञ स्वभावी चेतनमयी मूर्ति पृथक् रहती है।

नख सिख तक इस देहमें निवसत हूं मैं चेतनरूप ।
जिस क्षण हूं हूं ही कों लखूं, ता क्षण मैं हीं चेतनभूप ॥

अर्थ—नखसे लेकर शिखा तक इस शरीरमें मैं चेतन-रूप पुरुष निवास करता हूं। जिस क्षण मैं मुझको ही देखता हूं उसीक्षण मैं चैतन्यराजा हूं।

इस ही पुद्गल पिन्डमें, वहै जो देखन जानन धार ।
यह मैं यह मैं मैं यह जो कुछ देखन जानन हार ॥ ५ ॥

अर्थ—इस ही पुद्गल पिंडमें वह जो देखने जाननेवाला है, वह देखने जाननेवाला जो कुछ है वही मैं हूं, वही मैं हूं।

यह मैं, यह मैं, मैं यही, घट बीच देखत जानत भाव ।
वही मैं वही मैं मैं वही, यह देखन जानन ठाव ॥ ६ ॥

अर्थ—अंतरमें जो देखने-जाननेवाला भाव है, वही मैं हूं, वही मैं हूं, मैं ही हूं। यह दर्शक-ज्ञायक स्थान (चिह्न) निश्चय ही मैं हूं, निश्चय ही मैं हूं, निश्चय ही मैं हूं।

अथ चारित्र—

हूं तिष्ठ रह्यो हूं ही विषै, जव इन परसे कैसा मेल ।
राजा उठि अंदर गयो, तव इस सभासे कैसो खेल ।। ७ ।।

अर्थ—मैं मुझमें ही ठहरा हूँ, तव इस परसे मेरा संवंध कैसा ? जब राजा उठकर अंदर गया, तव सभाका नाटककैसा ?

प्रभुता निजघर रहे, दुःख नीचता परके गेह ।
यह प्रत्यक्ष रीति विचारिकै, रहिये निज चेतन गेह ।। ८ ।।

अर्थ—अपने घरमें प्रभुता रहती है और परके घर दुःख और नीचता रहती रहती है। यह प्रत्यक्ष रीति विचार कर निजचेतन गृहमें रहना चाहिये।

पर अवलंबन दुःख है, स्व अवलंवन सुखरूप ।
यह प्रगट लखाव पहचानके, अवलंवियो सुख कूप ।। ९ ।।

अर्थ—पर अवलंवन दुःखरूप है और स्व अवलंवन सुखरूप है! यह प्रगट देखकर और लक्षणसे पहिचानकर सुख कूप (स्रोत) का अवलंवन करना चाहिये।

यावत तृष्णारूप है, तावत मिथ्या-भ्रम-जाल ।
ऐसी रीति पिछानिकै, लहियै सम्यग् विरति चाल ।। १० ।।

अर्थ—जब तक तृष्णारूप है तव तक मिथ्या भ्रमजाल है। ऐसी रीति पहचानकर सम्यक् विरति ग्रहण करना चाहिये।

परके परिचय धूम है, निज परिचय सुख चैन ।
यह परमारथ जिन कह्यो, उस हितकी करी जु सैन ।। ११ ।।

अर्थ—परके परिचयसे आकुलता है और निजके परिचयसे सुख-चैन (शान्ति) है। जिनेन्द्रदेवने यह परमार्थ

कह कर उस हितका संकेत किया है।

इस धातुमयी पिंडमयी रहूं हूं अमूरति चेतन बिम्ब ।
ताके देखत सेवतें रहे पंचपद प्रतिबिम्ब ।। १२ ।।

अर्थ—इस धातुमयी पिंडमें मैं अमूर्तिक चेतन बिम्ब रहता हूं। उसके देखने और सेवन करनेमें पाचों परमपद प्रतिबिंबित होते हैं।

तब लग पंचपद सेवना, जब लग निजपदकी नहीं सेव ।
भई निजपदकी सेवना, तब आपै आप पंच पद देव ।। १३ ।।

अर्थ—तब तक पंचपरमेष्ठीकी सेवा करता है जब तक निजपदको सेवा नहीं है। निजपदकी सेवा होते ही स्वयं पंचपरमेष्ठी देव है।

पंच पद विचारत ध्यावतैं, निजपदकी शुद्धि होत ।
निजपद शुद्धि होवतैं निजपद भवजल तारण पोत ।। १४ ।।

अर्थ पांच पदोंको विचारने और ध्यान करने पर निजपदकी शुद्धि होती है। निजपदकी शुद्धि होने पर निज-पद भव जलसे पार होनेके लिये जहाज है।

हूं ज्ञाता दृष्टा सदा, हूं पंचपद त्रिभुवन सार ।
हूं ब्रह्म ईश जगदीशपद, सो हूं के परचै हूं पार ।। १५ ।।

अर्थ—मैं सदा ज्ञाता हूं, दृष्टा मैं तीनलोकमें सार पंचपद (परमेष्ठी) हूं। मैं ब्रह्मा ईश्वर और जगदीश स्वरूप हूं। सोहंका परिचय होते ही भवोदधिसे पार होता है।

इति श्री आत्मावलोकन ग्रंथ संपूर्णम्